राजकमल से प्रकाशित
सत्यजित राय का उपन्यास

सोने का किला

सत्यजित राय ने अपने इस उपन्यास में अपने किशोर पाठकों को बंगाल से राजस्थान तक की यात्रा करायी है—कलकत्ता से जैसलमेर तक की यात्रा। यह उपन्यास एक ऐसे किशोर बालक मुकुल की कथा है जिसे अपने पूर्व जन्म की बातें याद रहती हैं। साथ ही यह एक ऐसे जासूस की कथा है जिसे इस प्रकार के सारे रहस्य खोज निकालने का शौक है और अपनी इस विद्या में वह पूरी तरह निपुण है। ये जासूस महोदय फेलूदा हैं जिनका पूरा नाम है प्रदोष मित्तिर।

मुकुल के पूर्व जन्म की बातों की खोज करने निकल पड़ते हैं फेलूदा। मुकुल के पूर्व जन्म में एक सोने का किला था, एक जगह कहीं गड़ा खजाना और उसके घर के पास ही कहीं लड़ाई चल रही थी। फेलूदा यह सब खोजते-खोजते कलकत्ता से जैसलमेर पहुँच गये। सोने का किला व गड़ा खजाना कइयों को ललचा गया था। गड़ा खजाना कौन खोज निकाले और कौन उस पर कब्जा करे, इस पर दूसरी दौड़ भी शुरू हो गयी थी। फेलूदा जानते थे कि लोग उनका पीछा करेंगे। वे सतर्क थे। पीछा करनेवाले बदमाशों ने जबर जाल रचा मगर फेलूदा मात खानेवाले नहीं, पक्के जासूस थे। सत्यजित राय का यह किशोर उपन्यास पाठकों को खूब मजे से राजस्थान के कई शहर किशनगढ़, बीकानेर, जोधपुर, पोकरण, रामदेवरा और फिर जसलमेर दिखाता है।

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

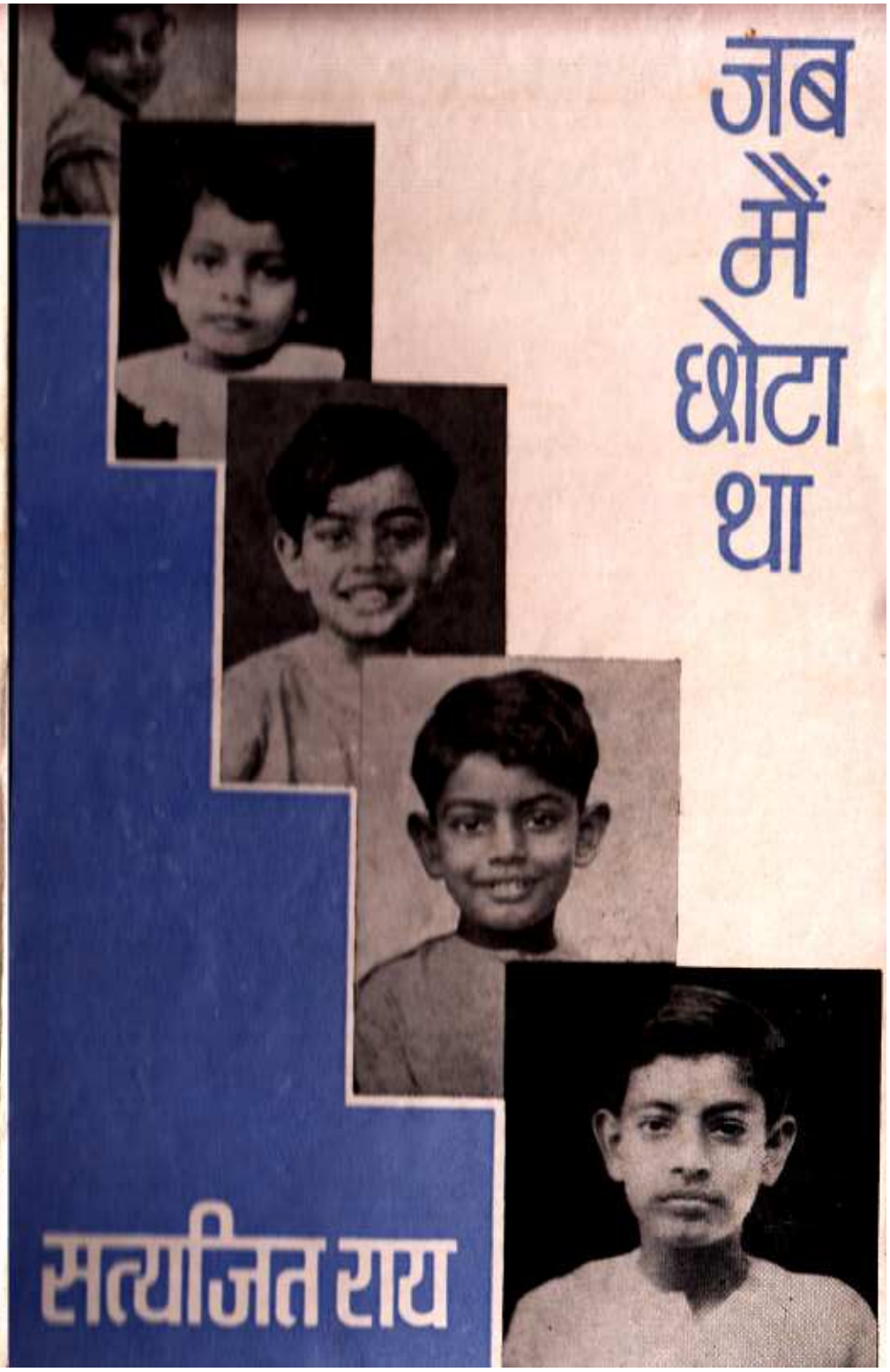

जब मैं छोटा था

सत्यजित राय

जब मैं छोटा था

सत्यजित राय

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

अनुवादक
सन्दीप मुखोपाध्याय

मूल्य : रु. 24.00

© सत्यजित राय

प्रथम संस्करण : 1984

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण : चाँद चौधरी

JAB MAIN CHHOTA THA
Memoirs *by* Satyajit Ray

बचपन की कौन-कौन-सी घटना याद रहेगी और कौन हमेशा के लिए मन से मिट जायेगी, यह पहले से कोई नहीं कह सकता। याद रहना या न रहना किसी नियम के तहत नहीं चलता। स्मृति का रहस्य यही है। पाँच साल की उम्र में मैं हमेशा के लिए अपने जन्मस्थान गड़पार रोड का मकान छोड़कर भवानीपुर चला आया। इस पुराने मकान से नये मकान में आने का दिन मैं पूरी तरह भूल चुका हूँ, मगर गड़पार में रहते हुए हमारा खाना पकानेवाली ब्राह्मणी के लड़के हरेन के बारे में मैंने एक बहुत मामूली सपना देखा था, वह मुझे आज भी साफ-साफ याद है।

मेरे इन संस्मरणों में बहुत मामूली घटनाओं की चर्चा है, जैसे कि बहुत नामी-गिरामी लोगों के अगल-बगल रहनेवाले बहुत साधारण लोगों की बात। साधारण और असाधारण का भेद बड़ों की तरह बच्चे नहीं करते; इसीलिए उनके मेल-मिलाप में किसी तरह की छँटाई-बिनाई भी नहीं होती। इस सम्बन्ध में गुरुजनों के विचारों को बच्चे हर समय समझते या मानते हैं, ऐसा भी नहीं है।

ये संस्मरण पहले सन्देश मासिक पत्र के दो अंकों में छपे थे। उसके बाद कुछ और घटनाएँ तथा व्यक्तियों की बातें याद आने पर उनके लिए भी इस किताब में जगह बनायी गयी।

सत्यजित राय

गड़पार

हम लोगों के बचपन में ऐसा बहुत कुछ था जो अब नहीं है। घर के बरामदे की रेलिंग से लटकता 'टु लेट' लिखा हुआ बोर्ड अब कहाँ दिखायी देता है? उन दिनों यह हर मुहल्ले में दिखायी देता था। बचपन में देखा, वालफोर्ड कम्पनी की डबल डेकर बस के ऊपरी तल्ले पर छत नहीं होती थी। उस बस के दुमंजिले में चढ़कर हवा खाते चलने का अलग ही मजा था। सड़कें उन दिनों काफी सुनसान थीं, ट्रैफिकजैम की विभीषिका लगभग नहीं थी। मगर सबसे ज्यादा फर्क मोटरगाड़ियों के चेहरे पर था। कितने मुल्कों की कितनी मोटरगाड़ियाँ कलकत्ता शहर में चलती थीं, उसका कोई हिसाब नहीं है। उन तमाम गाड़ियों के चेहरे तथा हॉर्न की आवाज़ अलग-अलग थी। घर में बैठे हॉर्न सुनकर गाड़ी पहचानी जाती थी। फोर्ड शेव, हाम्बार, वक्सहाल, विलसलि, डॅज, बुइक, आस्टिन, स्टुडिबेकर, मैरिस, ओल्ड्स, मोबिल, ओपैल सियोत्राँ—ये तमाम गाड़ियाँ अब शहर से गुम हो गयी हैं। हुड खुली हुई कितनी गाड़ियाँ आज दिख पड़ती हैं? और साँप के मुँहवाला 'बोया हॉर्न' लगी हुई विशाल लैनसिया, लासाल—ये तमाम शाही गाड़ियाँ तो मानो सपने में देखी हुई लगती हैं। देखने में कछुए के खोल की तरह लगनेवाली पहली स्ट्रीम लाइण्ड गाड़ी जब कलकत्ता आयी, वह भी एक जमाना पहले की बात है। और घोड़ागाड़ी-जैसी चीज तो अब लगभग दिखती ही नहीं। गड़पार के हमारे मकान में मोटरगाड़ी नहीं थी, इसीलिए हम

लोगों ने घोड़ागाड़ी की सवारी बहुत की। बक्सागाड़ी में आराम कभी भी नहीं था, पर फिटन में चढ़कर काफी मजा आता था, यह याद है।

आजकल आसमान को थर्राते हुए जेट प्लेन शहर के ऊपर से आते-जाते रहते हैं। उन दिनों यह शब्द लोगों के लिए अपरिचित था। दो-एक सीटर प्लेन आसमान में कभी-कभार दिख जाते थे। उस समय दमदम और बेहाला में फ्लाइंग क्लब चालू हुआ था, बंगाली लोग हवाई जहाज चलाना सीख रहे थे। इन हवाई जहाजों से बीच-बीच में विज्ञापन के पर्चे फेंके जाते थे। हजार-हजार कागज एकसाथ छोड़ देने पर वे हवा में तैरते हुए शहर में जगह-जगह फैल जाते थे। एक बार कई पर्चे हमारे बकुलबागान के मकान की छत पर गिरे थे। उठाकर देखा, बाटा का विज्ञापन था।

रोज़ाना इस्तेमाल की चीजें, दवा-दारू वगैरह कितनी बदली हैं इस बारे में सोचने पर भी अचम्भा होता है। नाइलोन से पहले जमानेवाला सफेद रंग का कालीनास टूथब्रश आजकल कोई इस्तेमाल नहीं करता। काले रंग का स्वान और वाटरमैन फाउण्टेन पेन जिस पदार्थ से बनता था, उसे Gutta Percha कहते थे। जलने पर उससे भयानक बदबू आती थी। पर यह मानना ही होगा कि वे तमाम कलमें आज के कलमों से कहीं ज्यादा टिकाऊ थीं।

क्वालिटी-फ्यरिनी के जमाने में, घर पर फ्रीज़र से आइसक्रीम अब भला कौन बनाता है? हमारे बचपन में लकड़ी की बाल्टी में फिट किये लोहे के हैण्डिल की धड़-धड़ आवाज सुनने पर मन नाच उठता था, क्योंकि घर की बनी हुई वैनिला आइसक्रीम के स्वाद के साथ किसी ठेलागाड़ी की आइसक्रीम के स्वाद की कोई तुलना नहीं थी।

याद है, बचपन में बीमार पड़ने पर डाक्टर नुस्खा लिख देते थे, और उस नुस्खे को देखकर दवाखाने से मिक्सचर मिल जाता था। सबसे ज्यादा मजा शीशी पर गोंद से चिपकाये हुए निशानोंवाले कागज के फीते को देखकर आता था। कहा जा सकता है कि यह चीज आजकल

लगभग दिखायी ही नहीं देती। नजला-जुकाम होने पर उन दिनों फुटबाथ लेना पड़ता था, हालाँकि यह याद नहीं है कि उससे नजला-जुकाम ठीक होता था या नहीं। जुलाब के लिए उन दिनों कस्टर आयल पीना पड़ता था --जिसके स्वाद और गन्ध से छठी का दूध याद आ जाता था। मलेरिया के लिए कुनैन की टिकियों के अलावा कोई चारा नहीं था। और मैं तो टिकिया ही नहीं निगल पाता था। एक बार ढाका जाना था। वहाँ मलेरिया आम है, कुनैन खानी होगी। मैंने चबाकर टिकिया खायी थी। उसका जहर-सा कड़वा स्वाद मानो अभी तक मुँह से नहीं गया। कैप्सूल आने के बाद, दवा भी कड़वी हो सकती है, यह हम लोग भूल ही गये हैं।

धुर शैशव की बात इन्सान को बहुत दिनों तक याद नहीं रहती। जब मेरे पिताजी की मृत्यु हुई तब मेरी उम्र ढाई साल थी। वह घटना मुझे याद नहीं है। पर पिताजी जिन दिनों बीमार थे, और मेरी उम्र दो या उससे भी कम थी, उन दिनों की दो घटनाएँ मुझे स्पष्ट याद हैं।

मेरे पैदा होने के थोड़े दिनों के बाद ही पिताजी बीमार पड़े। यह बीमारी फिर ठीक नहीं हुई। बीच-बीच में ज़रा स्वस्थ होने पर पिताजी को हवा बदलने के लिए बाहर ले जाया जाता था। पिताजी के ही साथ मैं एक बार सोदपुर और एक बार गिरीडीह गया था। गंगा के किनारे सोदपुर के मकान का आँगन याद है। एक दिन पिताजी खिड़की के पास बैठकर चित्र बना रहे थे, अचानक उन्होंने कहा --'जहाज जा रहा है।' मैंने दौड़कर आँगन में देखा, भोंपा बजाकर एक स्टीमर चला गया।

गिरीडीह की घटना में पिताजी नहीं हैं; हम लोगों का बुड्ढा नौकर प्रयाग है। मैं और प्रयाग उश्री के किनारे बालू में बैठे थे। प्रयाग ने कहा, बालू खोदने पर पानी निकलता है। बहुत उत्साहित होकर मैंने बालू खोदना शुरू किया। खोदने के लिए खिलौने की दुकान से खरीदा हुआ खन्ता था, यह भी याद है। पानी निकला कि तभी कहीं से एक देहाती लड़की आकर उसमें हाथ धो गयी। जो पानी हमने खोदकर निकाला

मैं और माँ दुमंजिले के दक्षिण में रहते थे, काकामणि के कमरे के ठीक नीचेवाले कमरे में। पश्चिम के एक कमरे में विधवा दादी रहती थीं, जिनके साथ मेरा बहुत-सा वक्त पुराने 'सन्देश' के चित्रों के ब्लाक टोकरी से चुनकर और झाड़-पोंछकर अलग करके रखने में गुजरता था। मेरे गड़पार में रहते हुए ही दादी माँ गुजर गयी थीं।

गड़पार में सबसे ज्यादा मुझे मेरे धनदादू कुलदारंजन राय याद हैं। वे रहते थे पहली मंजिल में हम लोगों के सोने के कमरे के ठीक नीचेवाले कमरे में। दादू मुग्दर भाँजते थे, दादू मरे हुए लोगों की तस्वीर एनलार्ज करते थे, दादू मुझे पुराण की कहानी सुनाते थे, और दादू एक जमाने में क्रिकेट खेलते थे। जबर्दस्त गोरा-टीम, कैलकटा के खिलाफ बंगाली टीम, टाउन क्लब की ओर से दादू एक बार निन्यानबे में अटक गये थे, फिर किस तरह उन्होंने सेंचुरी की थी, उसकी कहानी उनसे बहुत बार सुनी है। मैंने दादू को जिस समय देखा उस समय उनकी खेल की उम्र नहीं थी। मगर खेल देखने का चाव उन्हें आखिर तक रहा। एम. सी. सी., आस्ट्रेलिया की टीम के कलकत्ता आने पर दादू का दिल इडेन गार्डेन के मैदान में भटकता रहता था।

तस्वीरें एनलार्ज करना दादू का पेशा था। छोटी से बड़ी बनायी गयी तस्वीर की फिनिश का काम वे अपने कमरे में ही करते थे। तैल-रंगों से तस्वीर बनाने के लिए जैसी इजेल रहती है, उसी तरह इजेल में एनलार्ज की हुई तस्वीर खड़ी करके, पाँव से एक धौंकनी-जैसी चीज दबाये रखकर तथा हाथ में पकड़े एयरब्रश के पतले मुँह से रंग का स्प्रे निकालकर फिनिश करने का काम चलता था, और मैं खड़े-खड़े देखता था। अधिकतर तस्वीर काली या कत्थई रंग की होती थी। मगर मुझे एक बार की याद है, नाटोर के महाराजा जगदिन्द्रनारायण की तस्वीर की फिनिश कई रंगों से की थी--पेड़-पौधे हरे थे, कश्मीरी शाल लाल थी। बगल में बैठे नये महाराज योगीन्द्रनारायण दादू का काम देख रहे थे, यह भी याद है।

जाने-पहचाने किसी परिवार में किसी के मरते ही दादू के पास तस्वीर एनलार्ज करने का आर्डर आता था। शायद ग्रुप फोटो में छोटा-

सा एक चेहरा, वह भी बहुत साफ नहीं है, पर यही जब दादू के हाथ से बड़ा होकर, फिनिश होकर और मढ़कर आता था, तब लगता था असली आदमी ही मानो तस्वीर के अन्दर से हमारी ओर देख रहा है। किसी की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद ब्राउन पेपर चढ़ाये मढ़ी हुई तस्वीर बगल में लेकर दादू हाजिर होते थे। वह तस्वीर खोलकर सबके सामने टेबुल पर खड़ी की जाती थी, और तस्वीर की ओर देखकर मृत व्यक्ति के रिश्तेदार आँखों से आँसू पोंछते थे। यह दृश्य बचपन में मैंने अपनी आँखों से बहुत बार देखा।

गड़पार में रहते वक्त ही 'यू राय एण्ड संस' से दादू की लिखी हुई बच्चों की बहुत सारी किताबें छपी थीं – इलियाड, ओडिसिऊस, पुराण की कहानी, बैताल पच्चीसी, कथा सरित्सागर। ये तमाम किताबें दुमंजिले पर छापेखाने के एक पार्टिशन किये हुए कमरे में बण्डल बाँध-कर रखी रहती थीं। इनमें से बहुत सारी कहानियाँ, हालाँकि पहले सन्देश पत्रिका में छप चुकी थीं।

पिताजी की मृत्यु के दो साल बाद तक सन्देश पत्रिका निकली थी। पहली मंजिल पर छापेखाने में सन्देश छापा जा रहा है, उसके तीन रंग के आवरण छप रहे हैं, यह बात मुझे साफ याद है। छापेखाने में मैं दोपहर के वक्त गश्त लगाता था। घुसते ही दिखायी पड़ता कि दाहिने कतार से कम्पोजिटर लोग अपने केस पर झुके हुए हैं और एक के बाद एक हरफ चुन-चुनकर बैठाते हुए रचना के साथ मिलाकर पंक्ति बना रहे हैं। सबका चेहरा जाना-पहचाना हो गया था, कमरे में घुसते ही सब मेरी ओर देखकर मुस्कराते थे। मैं उन लोगों की बगल से कमरे के पीछे की ओर निकल जाता था। आज भी तारपीन तेल की बू पाते ही आँखों के सामने 'यू राय एण्ड संस' की ब्लॉक मेकिंग डिपार्टमेण्ट की तस्वीर उभर आती है। घर के बीच में रखा हुआ विराट प्रोसेस कैमरा। कैमरे का काम जिसने बहुत चुस्ती से सीखा था, उस रामदहिन ने प्रेस में मामूली बैरे के तौर पर काम शुरू किया था। बिहार का लड़का। दादू ने खुद उसे सारा काम सिखाया था। रामदहिन लगभग घर के आदमी जैसा था, और उस पर मेरे जितना

ही दुलार था। एक कागज पर ऊलजलूल कुछ उकेरकर उसके हाथ में देकर कहता था 'रामदहिन, यह सन्देश में छपेगा।' रामदहिन तभी सिर हिलाकर कह देता था—'हाँ, खोखा बाबू, हाँ।' सिर्फ इतना ही नहीं; कैमरे के नीचे की ओर मुँह किये हुए लेंस के नीचे मेरी तस्वीर बिछाकर और मुझे गोदी में उठाकर उसके पीछे काले घिसे हुए शीशे में उस तस्वीर की उल्टी छाया दिखा देता था।

पढ़ाई-लिखाई गड़पार में कितनी की, यह ठीक याद नहीं है। एक हल्की-सी स्मृति है कि धनदादा की लड़की बुलु बुआ मुझे अंग्रेजी का पहला पाठ पढ़ा रही है। किताब का नाम था, स्टेप बाइ स्टेप। उसका चेहरा भी याद है। माँ भी अवश्य पढ़ाती होगी, मगर जो याद है वह यह कि वे अंग्रेजी में कहानी पढ़कर बंगला में उसे सुना रही हैं। उनमें से कॉनन डायल का ब्लू जान गैप तथा ब्रेजिलियन कैट का डरावना किस्सा कभी नहीं भूला।

बुलु बुआ की छोटी बहन थीं तुतु बुआ। वे हमारे घर से तीन मिनट की पैदल दूरी पर अपर सर्कुलर रोड पर रहती थीं। हम लोगों के घर में किसी के ज्यादा बीमार पड़ने पर माँ सेवा के काम में जुट जाती थीं। उस समय मैं तुतु बुआ के घर चला जाता था। खिड़कियों में लगे लाल-नीले-पीले-हरे शीशोंवाला बाबा आदम के जमाने का यह मकान जिसका फर्श मोजाइक से बना था, मुझे काफी मजेदार लगता। सामने का बरामदा एकदम आम रास्ते के ऊपर था। उसके एक ओर रेल की पटरी थी। उस पटरी से छोटी-छोटी रेलगाड़ियाँ आती-जाती थीं। यहाँ तक याद पड़ता है, उस गाड़ी में आदमी नहीं आते-जाते थे। वह मालगाड़ी थी; थापा के मैदान में शहर का कूड़ा-करकट फेंकने के लिए ले जायी जाती थी। लोग मजाक करके कहते थे—'थापा मेल'।

जितने दिन तुतु बुआ के घर रहता था, उतने दिन मेरी पढ़ाई का उत्तरदायित्व वही उठाती थीं। और फूफा नौकरी से लौट आने पर अपनी गाड़ी पर घुमाने ले जाते थे। घर की बीमारी ठीक हो जाने पर मैं फिर गड़पार लौट जाता था।

घर में रहते हुए शाम को कभी-कभी सर जगदीशचन्द्र बोस के मकान में घूमने जाता था। यह मकान भी हमारे घर से पाँच मिनट की दूरी पर था, अपर सर्कुलर रोड पर ही। जगदीशचन्द्र बोस उस समय बंगाल के सबसे विख्यात व्यक्तियों में से एक थे। पेड़ों में भी जो प्राण है, उसकी उन्होंने खोज की है, और इसी के लिए उन्हें 'सर' उपाधि मिली है। हालाँकि उनके घर हम उन्हें देखने के लिए नहीं, बल्कि उनके बगीचे के एक ओर जो चिड़ियाघर था, उसे देखने जाते थे।

पर अधिकतर सन्ध्याएँ हम लोग अपने मकान की छत पर ही बिताते थे।

मेरे अपने भाई-बहन न होने पर भी ऐसी बात नहीं कि घर में कोई साथी नहीं था। हमारा खाना पकानेवाली महिला का लड़का हरेन मेरी उम्र का था, और श्यामा रौताइन का लड़का छेदी मुझसे चार-पाँच साल बड़ा था। श्यामा का घर मोतिहारी था। टूटी-फूटी बंगला बोलती थी, मगर किसी कारण अचम्भे में आकर उसका हाथ गाल पर चला जाता था, और साथ-ही-साथ मुँह से निकल पड़ता था—'आ-गे-मइनी ! देख तो पहिले !' छेदी ने बंगला सीखी थी। उसके अनेक गुणों में से एक था, गुड्डी के पेंच की करामात। मंजा लगाने का काम तो हमारी छत पर ही लोहे के तीन खम्भों के बदन पर धागा लपेटकर हो जाता था। परेता पकड़ने का काम मेरा था। विश्वकर्मा-पूजा के दिन जब उत्तर कलकत्ते का आसमान गुड्डियों से भर जाता था उस समय ही छेदी की करामात दीख पड़ती थी। चारों ओर छतों से पेंच लड़ानेवालों की चीखों से मुहल्ला मस्त हो उठता था—'दुयोक्को ! बाड़ेनाक्की !' 'दुयोक्को ! पेंच लड़े नक्को !' और गुड्डी कटने पर—'वह काटा !'

छेदी का हाथ का काम बहुत अच्छा था। दस-बारह साल की उम्र में ही पतला रंगीन कागज जोड़कर फानुस बनाता था जिसे हम दीवाली को उड़ाते थे। इसके अलावा दो और चीजें छेदी तैयार करता था जिन्हें मैंने किसी और को बनाते नहीं देखा।

एक था चाभी पटाका। हाथ-भर लम्बी बाँस की छड़ के ऊपर का सिरा जरा-सा चीरकर और उसमें चाभी का हाथ से पकड़नेवाला हिस्सा घुसाकर इस तरह बाँध दिया जाता था ताकि चाभी समकोण में छड़ से निकली रहे। यह चाभी आम तौर पर दो तरह की होती है—सिर बन्द और सिर पर छेदवाली। इस मामले में दूसरे तरह की चाभी की जरूरत है, क्योंकि उस छेद में बारूद डालनी होगी। छेदी दियासलाई की तीली का बारूद छेद में भर देता था।

अब उस छेद में काफी कसी हुई फिटिंगवाली एक कील ठोंकनी होगी, ताकि कील के नीचे का हिस्सा और बारूद के बीच में इंच-भर फाँक रह सके।

इस छड़ को मजबूती से पकड़कर कील का सिर तेजी से दीवार पर मारा जाता था और मारते ही भीतर का बारूद हवा के दबाव से बम की तरह फट पड़ता था।

इसके अलावा छेदी दही के भाण्ड से एक तरह का लालटेन भी बनाता था, जो मुझे बहुत मजेदार लगता था। भाण्ड के नीचे के गोल हिस्से को काटकर वह उसकी जगह एक रंगीन शीशा लगा देता था। उसके बाद भाण्ड के भीतर बगल में एक मोमबत्ती खड़ी कर जला देता था और फिर एक छेददार पिचबोर्ड से भाण्ड का मुँह बन्द कर देता था। पिचबोर्ड में छेद की जरूरत है, क्योंकि बिना हवा के मोमबत्ती नहीं जलेगी।

और आखिर में भाण्ड के किनारे बँधी रस्सी हाथ में लेकर अँधेरे में घूमने-फिरने पर रंगीन शीशे से छिटकती रंगीन रोशनीवाली काफी खूबसूरत लालटेन बन जाती थी।

दादाजी के पाँच भाइयों में दो बड़े भाई हिन्दू रहे और बाकी तीनों ब्राह्म हो गये थे। ब्राह्म होनेवालों में शारदा रंजन बड़े तथा मुक्तिदा रंजन मँझले थे। इन्हें बड़े दादू और मुक्ति दादू कहते थे। शेष तीनों के घर जाने पर बहुओं की माँग में सिन्दूर, साड़ी पहनने का ढंग अलग और पुरुषों के हाथ में ताबीज दिखायी देता था। पूजा के कमरे से शंख और घण्टे की आवाज सुनायी पड़ती थी। चाची और

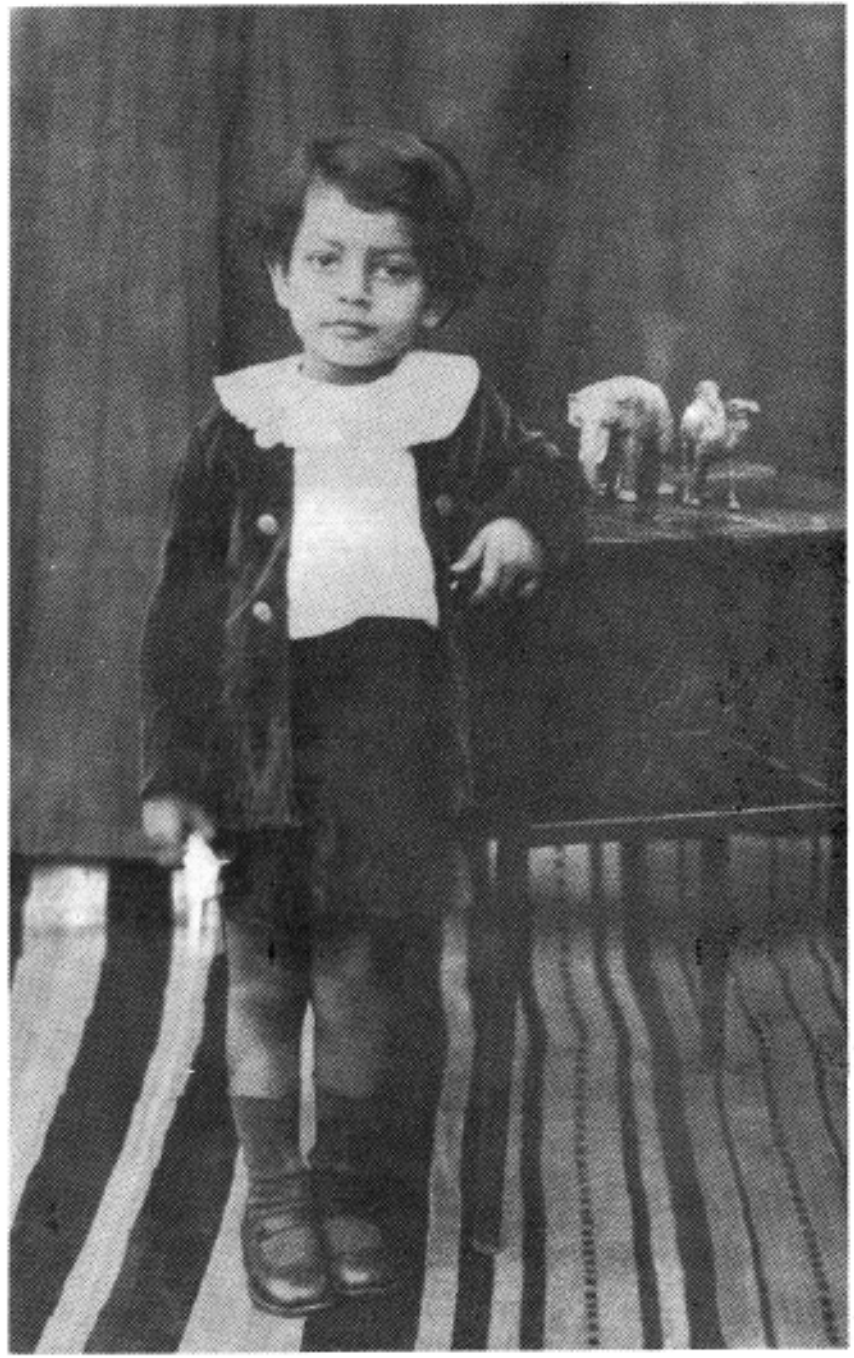

पिता की मृत्यु से कुछ पहले दो वर्ष की आयु में

दाहिने : चार वर्ष की आयु में
नीचे : दादी, मैं और मुझसे चार वर्ष बड़ा भाई सरल

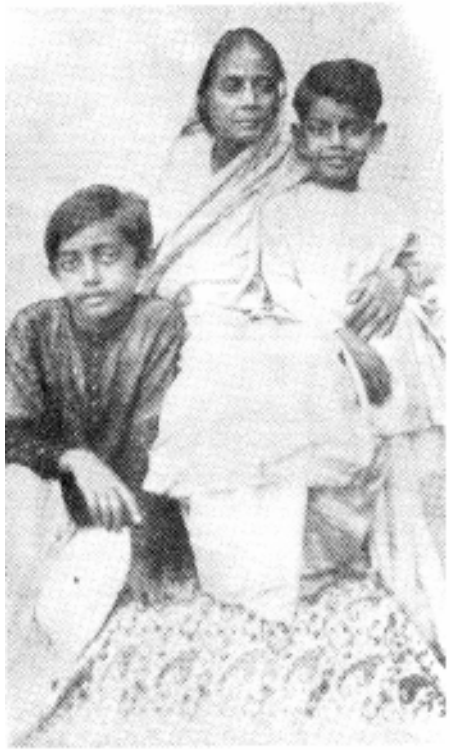

दिसम्बर 1923 में लिया गया चित्र

चार वर्ष की आयु में

1925 में मेरी
कापी में नन्दलाल वसु द्वारा अंकित
भालू और बाघ के चित्र । मूल चित्र
रंगीन हैं ।

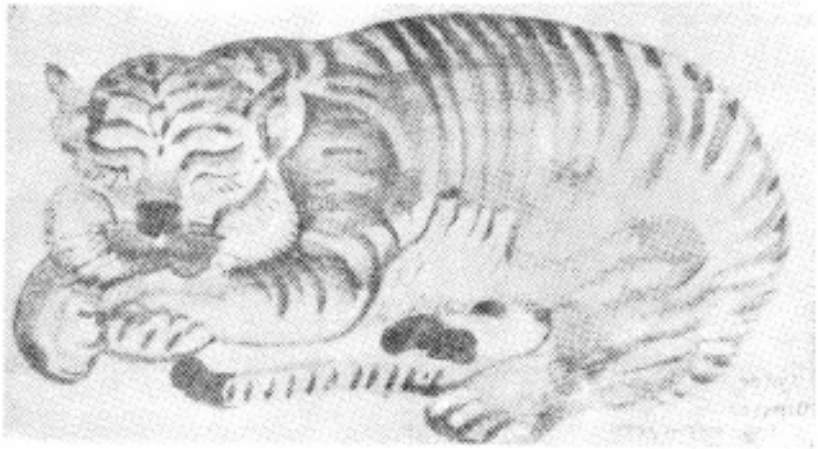

छोटी मौसी कनक दास
(बाद में विश्वास) 1928

माँ और मैं । कैमरे के शटर में
धागा बाँधकर उसे खींचकर
मैंने स्वयं ही यह चित्र लिया था

समुद्र-स्नान

दादी लोग हमें प्रसाद लाकर खिलाती थीं। मगर इतना फर्क रहते हुए भी वे कभी गैर नहीं लगे। सच कहा जाय तो, मात्र धर्म के मामले को छोड़, दादा भाइयों में मेल बहुत था। हिन्दू शारदा और मुक्तिदा जैसे खेल खेलते थे, मछली पकड़ते थे, उसी तरह ब्राह्म कुलदा भी। क्रिकेट शारदा ने शुरू किया, उसके बाद राय परिवार के हिन्दू ब्राह्म सभी में फैल गया।

खेल ने वाकई मेरी सोना दादी माँ के घर में जड़ जमायी थी। सोना दादी माँ मेरे दादा की बहन थीं। इनकी शादी ब्राह्म बोस परिवार में हुई थी। पति हेमेन बोस का परफ्यूमरी या सुगन्धी द्रव्यों का कारोबार था—

बाल में मलो कुन्तलीन
रूमाल में लगाओ देलखोश,
पान में खाओ ताम्बुलीन
धन्य है एच. बोस !

इन चार पंक्तियों की कविता के साथ उन दिनों उनका अखबारों में विज्ञापन निकलता था।

सुगन्धी द्रव्यों के अलावा भी एच. बोस ने थोड़े दिनों के लिए एक और व्यवसाय चलाया था। वह था एक फ्रान्सीसी कम्पनी के साथ जुटकर ग्रामफोन रेकार्ड का व्यापार। वह रेकार्ड हम लोगों ने अपने बचपन में सुना है। रेकार्ड उल्टी दिशा में घूमता था, और पिन सहित साउण्ड बॉक्स बीच से बाहर की ओर हिलता था।

सोना दादी माँ चौदह लड़के-लड़कियों की माँ थीं। बदन का रंग दूधिया, अस्सी साल की उम्र तक जिन्दा रहीं, आखिरी दिन तक एक भी बाल नहीं पका, एक भी दाँत नहीं गिरा।

चार लड़कियों में बड़ी मालती उस जमाने की नामी गायिका थी। बड़ा लड़का— हितेन चाचा पक्के चित्रकार, उस्तादी गानों के जानकार, फ्रान्सीसी जाननेवाले, कीमती दुष्प्राप्य किताबों का संग्रह करते थे।

गोरा रंग, सुपुरुष चेहरा। और एक भाई नितिन (पुतुल चाचा) बाद में नामी सिनेमा निर्देशक तथा कैमरामैन बने थे। मेरे बचपन में, मुझे याद है, उन्होंने खुद ही छोटे मूवी कैमरे से असम में हाथी पकड़ने की फिल्म बनाकर दिखायी थी, और बाद में विलायती कम्पनी को वह फिल्म बेची थी।

छोटे भाई मुकुल को पाँव की बीमारी थी, वे लँगड़ाकर चलते थे। पढ़ाई-लिखाई बहुत ज्यादा नहीं की, मगर यन्त्रों के बारे में उनका दिमाग असाधारण था। उद्भिद विज्ञानी जगदीशचन्द्र बोस के तमाम सूक्ष्म गवेषणा यन्त्र कलकत्ता में एकमात्र वही दुरुस्त कर सकते थे। बाद में उन्होंने सिनेमा लाइन में जाकर साउण्ड रिकार्डिस्ट के तौर पर काफी नाम कमाया।

उनसे छोटे चार भाई—कार्तिक, गणेश, बापी, बाबू सभी क्रिकेट खेलते थे। मैं उस समय छोटा था, जब कार्तिक ने नाम कमाना शुरू किया, और सभी कह रहे थे कि बंगालियों में ऐसा बैट्समैन कभी नहीं हुआ। अमहर्स्ट स्ट्रीट में शाम को उनके घर पर जाते ही दिखता, या तो कार्तिक चाचा या गणेश चाचा, एक बड़े शीशे के सामने खड़े होकर बैट हाथ में लिये स्ट्रोक प्रैक्टिस कर रहे हैं। घर के मैदान में सिमेण्ट का पिच था, और बैटिंग के अभ्यास के लिए अलग बैट था, जिसकी दोनों बगलों को छाँटकर सिर्फ बीच का हिस्सा रखा गया था।

कुल मिलाकर, अमहर्स्ट स्ट्रीट के बोस परिवार के मकान जैसा हो-हुल्लड़वाला मकान मैंने दूसरा नहीं देखा।

उस बचपन में एक मामला मन में ज़रा खटकता था। ब्राह्मों के माघोत्सव में हिन्दू पूजा की तरह हो-हुल्लड़ नहीं है। महज ब्रह्म की उपासना और भगवान के बारे में गाना सुनना। एक ब्रह्मोपासना का मतलब डेढ़ से दो घण्टा। हमारे घर श्राद्धतिथि में उपासना का रिवाज था। बैठने के कमरे में कुर्सी-टेबुल हटाकर संगमरमर के फर्श पर मोटी चद्दर बिछा दी जाती थी, हम लोग उस पर बैठते थे। उसके बाद उपासना और गाना होता था। मेरी माँ बहुत अच्छा गाती थीं, मगर

उपासना के दिन जो लोग इतना अच्छा नहीं गाते थे—जैसे धनदादू या काकामणि—वे भी गाने में शामिल होते थे। साल-दर-साल एक ही चद्दर पर सिर झुकाये उपासना सुनते-सुनते मुझे चद्दर का नक्शा याद हो गया था। संस्कृत-श्लोक और उनका बंगला पाठ कण्ठस्थ हो गया था। बंगला में कहने का भी एक नियम था जिसे सभी आचार्य मानते। इस नियम के अनुसार सभी शब्द खींच-खींचकर कहे जाते। जैसे 'असतो मा सदगमय' श्लोक की पहली तीन पंक्तियों को इस तरह कहा जाता था—

'असत्य-से - हम - लोगों-को - सत्ये-में - ले-जाओ,
अन्ध-कार-से-हम-लोगों-को - प्रकाश-में-ले-जाओ,
मृत्यु-से - हम-लोगों - को-अमृते - में-ले - जाओ।'

इस 'सत्ये-में' और 'अमृते-में' का मामला काफी खटकता था। उस तरह न कहकर 'सत्य में ले जाओ' और 'अमृत में ले जाओ' कहने से भी तो चलता या अन्त में अगर और एक 'ते' या 'में' जोड़ना ही हो तो 'सत्य में' और 'अमृत में' कहने से क्या गलत होता? मगर आचार्यों के मन में अवश्य ही यह नहीं खटका होगा, वरना वे सभी साल-दर-साल इस एक ही तरह क्यों चलते?

एक ब्राह्म मन्दिर भवानीपुर में भी है और वहाँ भी माघोत्सव होता है। मगर हम लोग जब गड़पार छोड़कर भवानीपुर में चले आये तब भी माघ एकादशी के बड़े उत्सव के दिन हम कार्नवालिस स्ट्रीट के ब्राह्म मन्दिर में ही जाते थे। उस मुहल्ले को ही समाज मुहल्ला कहा जाता था। जाड़े की भोर में साढ़े चार बजे नहाकर जाना पड़ता था। पहले घण्टा भर ब्रह्म-कीर्तन होता था, उसके बाद ढाई घण्टे गाना और उपासना। बैठने का इन्तजाम लकड़ी की बेंच पर, जिसकी पीठ इतनी खड़ी कि उसमें आराम का सवाल ही नहीं था।

माघोत्सव के सिर्फ तीन दिन हम लोगों के ज़रा मजे होते थे—एक खास दिन उपासना के बाद खिचड़ी खाना, एक दिन पिकनिक, और एक दिन बालक-बालिका सम्मेलन। इस आखिरी मामले में गुरु गम्भीर उपासना का कोई झमेला नहीं था।

ढाक-ढोल बजाकर, पैंडेल लगाकर, मूर्ति सजाकर हिन्दू पूजा में जो एक हो-हल्ला और तामझाम है, ब्राह्म उत्सव में वह कतई नहीं था। दीवाली के पटाखे छोड़ने और गुब्बारा उड़ाने में हम भी शामिल होते थे, और हमारे जमाने के अनार-हाऊई-फुलझड़ी-रंगमशाल-चटपटी तथा चीनी पटाखे छोड़ने में जो आनन्द था, वह इस जमाने के कान फाड़ने-वाले, सीना कँपानेवाले बम-पटाखों में बिल्कुल नहीं है। मगर साल के कई-कई खास दिनों में सारे शहर को मिलकर मजे करने का मामला ब्राह्मों में नहीं था।

शायद इसीलिए ईसाइयों के बड़े दिन को अपने पर्वों के बीच ठेल लेने की एक कोशिश हमेशा रही। बड़ा दिन आने पर इसीलिए मन नाच उठता था।

कलकत्ते में उन दिनों साहबों की बड़ी दूकान (आजकल जिसे डिपार्ट-मेण्ट स्टोर कहते हैं) थी—ह्वाइट आओये लेइउले। चौरंगी में अभी जहाँ मेट्रो सिनेमा है वहाँ स्टेट्समैन पत्रिका का दफ्तर था। उसकी बगल में, सुरेन बैनर्जी रोड के मोड़ पर घड़ीवाला बड़ा मकान था—ह्वाइट आओये का मकान। विशाल दुमंजिले मकान की पूरी दूसरी मंजिल ही बड़े दिन पर कई दिन तक 'टॉयलैण्ड' बन जाती थी। एक बार मैं भी माँ के साथ यह टायलैण्ड देखने गया।

सारे देश में गोरों का राज्य। ह्वाइट आओये गोरों की दूकान। बेचनेवाले सभी साहब; खरीदारों में भी अधिकतर साहब-मेमसाहब। जाकर सारा कुछ देख-दाख कर आँखें चौंधिया गयीं। मगर टायलैण्ड में जो जाऊँगा, दुमंजिले के लिए सीढ़ी कहाँ है? जिन्दगी में यहीं पहली बार जाना कि लिफ्ट किसे कहते हैं। ह्वाइट आओये की दूकान की लिफ्ट ही शायद कलकते की पहली लिफ्ट थी।

सुनहरे रंग के लोहे के पिंजड़े से दुमंजिले में आकर लगा कि किसी स्वप्नराज्य में आया हूँ। बीच में बहुत सारी जगह घेरकर पहाड़, नदी, ब्रिज, टोनेल, सिग्नल, स्टेशन सहित खिलौना रेलगाड़ी टेढ़े-मेढ़े चक्कर मारकर रेल लाइन से चल रही है। इसके अलावा घर के चारों ओर रंग-बिरंगे गुब्बारे, रंगीन कागज की सीकड़ी, झालर, फूल, फल और

चीनी लालटेन। उसके ऊपर रंग-बिरंगे गेंदों और तारों-भरा क्रिसमस ट्री, और जो सबसे अधिक ध्यान खींच रहा है वह है—फूले हुए गालोंवाला मुस्कुराता दढ़ियल चेहरा, लाल कमीज, पैण्ट और टोपी में सजा-धजा तीन आदमियों के बराबर ऊँचा फादर क्रिसमस!

खिलौने जो हैं सारे-के-सारे विलायती। उनमें से जो हमारे बूते का है, ऐसा एक बक्सा क्राकार लेकर घर लौटा। वैसा क्राकर अब नहीं है। जैसी उसकी आवाज, वैसी ही खूबसूरत उसके भीतर की छोटी-छोटी चीजें।

बड़ी और खूबसूरत दूकान कहने पर उन दिनों मन में जो चित्र बनता था, वैसी दूकानें अधिकतर चौरंगी में ही थीं। उनमें से ह्वाइट आओये के पास ही एक दूकान थी बंगाली की दूकान—कार एण्ड महाल नबीश। ग्रामोफोन और खेल के सामानों की दूकान। दूकान पर जो बैठते थे उन्हें हम लोग चाचा कहते थे—बुला चाचा। इस दूकान में एक मजेदार कुर्सी थी—असल में वजन की एक मशीन! चौरंगी इलाके में जाने पर बुला चाचा की दूकान में कुर्सी पर बैठकर वजन लेने की आदत पड़ गयी थी। पिताजी की मृत्यु के बाद इन बुला चाचा ने ही मुझे एक ग्रामोफोन ला दिया था। उसी समय से मुझे ग्रामोफोन और रिकार्ड का शौक है। मेरे खुद के दो खिलौना ग्रामोफोन थे, जिन्हें सम्भवतया बुला चाचा ने ही दिया था। एक का नाम पिगमीफो और दूसरे का किडीफोन। उनके साथ गाने बजाने के पूरी के आकारवाले कई विलायती रिकार्ड भी थे।

कलकत्ते का रेडियो स्टेशन चालू होने के कुछ ही दिनों बाद बुला चाचा ने मेरे जन्मदिन पर एक रेडियो उपहार दिया था। वह रेडियो आजकल के रेडियो की तरह नहीं था, उसे कहते थे—क्रिस्टाल सेट। कान में हेडफोन लगाकर सुनना पड़ता था, यानी एकसाथ एक आदमी से अधिक रेडियो-प्रोग्राम सुन नहीं पाते थे।

बुला चाचा के साथ ही हम लोग एक बार आउट्रम रेस्टोरेण्ट में गये थे। आउट्रम घाट पर यह खूबसूरत रेस्टोरेण्ट पानी में तैरता था। देखने में ठीक जहाज के डेक की तरह। आजकल आउट्रम घाट जाने पर

उसका पहलेवाला वह चेहरा दिखायी नहीं पड़ेगा। उस समय घाट के दूसरी ओर इडेन गार्डेन के चारों ओर खूबसूरत गैस-बत्तियाँ जलती थीं, और बगीचे के बीचोबीच बैण्डस्टैण्ड में गोरों का बैण्ड बजता था, शाम के वक्त। आउट्रम रेस्टोरेण्ट में मैंने जिन्दगी में पहली बार आइसक्रीम खायी हालाँकि इसे लेकर बाद में बहुत मजाक झेलना पड़ा था; क्योंकि पहला चम्मच मुँह में देते ही दाँत बहुत सिरसिराने लगे थे, जिसके कारण मैंने आइसक्रीम को ज़रा गरम कर देने के लिए कहा था।

भवानीपुर

सन्देश पत्रिका बन्द होने के थोड़े दिन बाद ही 'यू राय एण्ड संस' का व्यापार भी क्यों बन्द हो गया, यह मैं इतनी कम उम्र में जान ही नहीं पाया। सिर्फ माँ को एक दिन कहते सुना, हमें यह मकान छोड़कर चले जाना पड़ेगा।

गड़पार और उसके साथ उत्तर कलकत्ता छोड़कर हम दोनों भवानीपुर में अपने मामा के यहाँ चले आये। मेरी उम्र उस समय छह के आसपास थी। मुझे नहीं लगता कि उस उम्र में बड़े मकान से छोटे मकान में, या अच्छी हालत से मामूली हालत में आने पर मन में खास तकलीफ होती है। 'आहा बिचारा' यह शब्द बच्चों के बारे में बड़े लोग अक्सर इस्तेमाल करते हैं; पर बच्चे खुद को बिचारा नहीं मानते।

भवानीपुर में बकुलबागानवाले मकान में आकर मुझे जिस चीज ने अवाक् किया था वह है चीनी मिट्टी के टुकड़ों को जमाकर बनाया गया नक्शेदार फर्श। यह चीज इससे पहले कभी नहीं देखी थी। अवाक् होकर देखता था, और लगता था—बाप रे बाप, न जाने कितने प्याले और तश्तरियों को तोड़कर यह फर्श बना होगा। टुकड़ों में अधिकतर सफेद हैं, मगर उनके बीच अनायास किसी कोने में दिख जाता—शायद छोटा-सा एक फूल या तारा, या लहराती पंक्तियाँ। कुछ काम न रहने पर चीनी मिट्टी के इन टुकड़ों को देखते हुए बहुत सारा समय कट जाता था।

एक और अच्छी चीज इस मकान में थी जो गड़पारवाले घर में

नहीं थी। वह था सड़क की ओर का बरामदा। सोने के कमरे से निकलकर ही बरामदा, सुबह-दोपहर-शाम सड़क पर तरह-तरह के लोगों का चलना-फिरना देखता था। दोपहर को ठेले पर रंग-बिरंगे खिलौने लेकर फेरीवाला आता था—'जर्मनवाला दो आना, जापान-वाला दो आना···!' हफ्ते में दो या तीन दिन मिसेज वुड का बक्सावाला आता था। बरामदे से माँ···मौसी लोग पुकारती थीं—'अरे बक्सेवाले, यहाँ आओ···!' मन नाच उठता था, क्योंकि शाम का खाना अच्छा बनेगा; बक्से में मेमसाहब की बनी केक, पेस्ट्री और पैटी है।

शाम जब होने-होने को होती, उस समय धुन में गाये हुए 'मैं लाया हूँ मजेदार चना जोर गरम' और कुछ ही देर बाद सड़क पार चाटुज्जे लोगों के मकान से हारमोनियम पर कर्कश आवाज में पक्के गाने का रियाज सुनायी पड़ता था।

गरमी की दोपहर में जब सोने के कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया जाता, तब भी जाने कैसे, झिलमिली से रोशनी आने से दिन के एक खास वक्त खिड़की के सामनेवाली दीवार की काफी जगह घेरकर रास्ते की उल्टी तस्वीर पड़ती थी। बन्द कमरे में मैजिक की उस तरह रास्ते पर लोगबागों का चलना दिखायी पड़ता था—गाड़ी, रिक्शा, साइकिल, राह चलते लोग—सब उस तस्वीर में अच्छी तरह समझ में आते थे। दोपहर में लेटे-लेटे कितने दिन बगैर पैसे का वह बाइस्कोप देखा, इसका हिसाब नहीं है।

हमारे मकान के मुख्य दरवाजे पर एक छोटा-सा छेद था। दरवाजा बन्द करके उस छेद के सामने घिसा हुआ शीशा पकड़ने पर बाहर का दृश्य छोटे आकार में उलटा होकर उस पर साफ दिखायी पड़ता था। यह नया कुछ नहीं है। यही है फोटोग्राफी की शुरू की बात, और इसे कोई भी अपने घर में जाँचकर देख सकता है। मगर उस समय अनजाने में यह घटते देख बहुत ही अचम्भे में पड़ गया था।

जिस मामा के घर हम रहे वे थे हमारे सोना मामा। हमारे मामा लोग चार भाई, तीन बहन। छोटे मामा मेरे पैदा होने से पहले ही गुजर गये थे। बड़े और मँझले मामा पटना और लखनऊ में बैरिस्टर

थे। तीसरे थे सोना मामा। ये विलायत नहीं गये, इनमें साहबीपन की बू तक नहीं थी। हमारे ही एक मौसा एक इंश्योरेंस कम्पनी के मालिक थे, जो उन दिनों बंगालियों की एक मशहूर कम्पनी थी। उस कम्पनी में ही सोना मामा काम करते थे।

सोना मामा का दिमाग गणित के मामले में बहुत ही चौकस था। मुझे याद है, जब मैं स्कूल में भर्ती हुआ, मेरी वार्षिक परीक्षा के दौरान गणित का प्रश्नपत्र हाथ में लेकर एक सवाल पर नजर टिकाते ही उन्होंने कहा, 'इसका उत्तर तो आठ है न?' मेरे लिए यह चमत्कार-सा था।

यों गम्भीर व्यक्ति होने के बावजूद एक लड़कपन भी उनमें था। मामा की उम्र उस समय तीस के आसपास थी, मगर हमउम्र रिश्तेदार, दोस्तों के साथ वे उस समय भी रविवार की सुबह घोर उत्साह से कैरम और लूडो खेलते थे। बाद में बैगाटेल आया, उसमें भी उत्साह की कमी नहीं। मैं खड़े-खड़े देखता था, और बीच-बीच में—'नहीं, बड़ों के बीच मत रहो माणिक' सुनना पड़ता था। मैं हालाँकि निकल आता था, मगर मन में यह भी सोचता था कि मामा लोग जो काम कर रहे हैं उसे ठीक बड़ों के लायक काम कहा नहीं जा सकता।

असल में मुझे काफी समय अकेले ही गुजारना पड़ता था; खास कर दोपहर का। मगर इससे वह कभी मुझे एकरस लगा हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। दस खण्डोंवाली 'बुक ऑफ नॉलेज' के पन्ने पलटकर देखना इस खाली वक्त का एक काम था। ये किताबें कभी भी पुरानी नहीं हुईं। बाद में माँ ने चार खण्डों की 'रोमांस ऑफ फेमस लाइव्स' खरीद दी थी—तस्वीरों से भरी हुई, विख्यात विदेशियों की जीवनी।

किताबों के अलावा वक्त काटने के लिए एक विचित्र यन्त्र भी था। उसका नाम स्टिरियोस्कोप था। उन दिनों बहुतों के घर में यह चीज दिखायी पड़ती थी, आजकल नहीं दिखती। यह यन्त्र विक्टोरिया के जमाने का आविष्कार था। नीचे एक हैंडिल, उसे पकड़कर फ्रेम में जड़े हुए एक जोड़ी आतशी शीशे को आँख के सामने पकड़ना पड़ता है। शीशे के सामने होल्डर में तस्वीर खड़ी की जाती है। एक तस्वीर नहीं,

लम्बे कार्ड में अगल-बगल दो फोटोग्राफ। देखने में लगेगा एक ही तस्वीर है, मगर असल ऐसा नहीं है। दृश्य एक ही है, मगर उसे एक ऐसे कैमरे से खींचा गया है जिसके सामने एक के बजाय दो लेंस—मानो इन्सान की दो आँखें हों। बायीं ओर के लेंस ने बायीं आँख से जो देखा उसे खींचा, और दाहिनी आँख से जो दिखा उसे दाहिने लेंस ने खींचा। शीशों की जोड़ी के अन्दर जब देखा जाता, तो दोनों तस्वीरें मिलकर एक हो जातीं और मुझे लगता जैसे जीवन्त दृश्य देख रहा हूँ। स्टिरियोस्कोप के साथ विभिन्न देशों के तरह-तरह के चित्र भी खरीदने को उपलब्ध थे।

एक और खेल का यन्त्र था मेरा, वह भी आजकल दिखायी नहीं देता। वह था मैजिक लैनटर्न। देखने में बक्से की तरह, सामने के चोंगे के अन्दर लेंस, सिर पर चिमनी और दाहिनी ओर एक हैंडिल। इसके अलावा दो रीलें हैं, एक में फिल्म भरनी पड़ती है। वही फिल्म हत्था घुमाने पर दूसरी रील में जमा होती है। फिल्म लेंस के ठीक पीछे से चलती है। बक्से के अन्दर किरोसीन की बाती जलती है, उसका धुआँ चिमनी से निकल जाता है, और उसकी रोशनी घूमती हुई फिल्म की चलती हुई तस्वीर को दीवार पर बिम्बित करती है। कौन जाने, मेरा फिल्मी नशा शायद इस मैजिक लैनटर्न से ही शुरू हुआ हो!

मामा के खिलाड़ी साथियों में एक और मामा थे, जो हमारे मकान की निचली मंजिल की पूर्वी कमरे में रहते थे। असल में वे रिश्तेदार नहीं थे, मामा के दोस्त थे, और इसीलिए मैं उन्हें भी मामा कहता था—कालू मामा। नौकरी की तलाश में कलकत्ता आये थे। नौकरी पाने के कुछ दिनों बाद ही वे तीस रुपये की एक चमकती हुई नयी रैले साइकिल खरीद लाये। छह महीने चलने के बाद भी यह साइकिल नयी की तरह ही चमकती रही, क्योंकि कालू मामा रोज सुबह पूरा आधा घण्टा उस साइकिल की सेवा करते थे।

सोना मामा तफरीह-पसन्द आदमी थे, इसीलिए बकुलबागान में आकर बीच-बीच में बायस्कोप, सर्कस, मैजिक, कार्निवल आदि देखने

का मौका लग जाता था। एक बार एम्पायर थियेटर में (जो अब रौक्सी है) मैं एक साहब का मैजिक देखने गया। नाम शेफालो। खेल के बाद खेल दिखाते जा रहे हैं, और उसके साथ बातों का फव्वारा फूट रहा है। बाद में पता चला कि जादूगर के इस बड़बड़ाने को 'पैटर' कहा जाता है। इस (पैटर के) गुण के कारण दर्शकों की नजर जादूगर के चेहरे पर चली जाती है, फलस्वरूप उसके हाथ के बहुत-से कारनामे नजरों से ओझल हो जाते हैं। शेफालो के दल में एक जादूगरनी भी थी, मदाम पैलार्मो। गूँगी बनकर उन्होंने मैजिक दिखाया। यह चीज और कभी नहीं देखी।

इसके कुछ दिनों बाद, एक मकान में शादी के अवसर पर एक बंगाली का मैजिक देखा, जिसके आगे शेफालो साहब के स्टेज का कारनामा कुछ भी नहीं था। स्टेज मैजिक में तरह-तरह के यन्त्रों का इस्तेमाल होता है। रोशनी के खेल और पैटर के जोर पर लोगों की आँखें और मन चौंधिया जाते हैं, फलस्वरूप जादूगर का काम बहुत आसान हो जाता है। पर इन सज्जन ने पण्डाल के नीचे फर्श पर बैठकर मैजिक दिखाया। पाँच हाथ के फासले पर उसे चारों ओर से घेरकर आमन्त्रित लोग बैठे थे। ऐसी हालत में वह सज्जन एक के बाद एक ऐसा खेल दिखा गये, जिसके बारे में सोचने पर आज भी हैरान रह जाना पड़ता है। (इस जादूगर को बहुत बाद में मैंने अपनी एक कहानी में रखा था।) दरी पर दियासलाई की तीलियाँ बिछा दी हैं, अपने आगे माचिस की एक खाली डिबिया। उसके बाद 'तू लोग एक-एक करके आजा' कहकर पुकारते ही तीलियाँ लुढ़कती हुई बक्से में आ घुसी हैं। हमारे ही एक परिचित सज्जन से चाँदी का एक रुपया माँग लिया, और एक के पास से एक अँगूठी। रुपये को चारेक हाथ दूर रखा, और अँगूठी को अपने आगे। उसके बाद अँगूठी को सम्बोधित करते हुए कहा, 'जा, रुपये को ले आ।' आदेश का पालन करते हुए अँगूठी लुढ़कती हुई रुपये के पास गयी और फिर दोनों एकसाथ लुढ़कते हुए उन सज्जन के पास आये। एक और मैजिक में एक सज्जन के हाथ में एक पैकेट थमाकर और दूसरे के हाथ से लाठी लेकर उसका

सिरा ताश की ओर बढ़ा दिया। इसके बाद कहा, 'आजा रे काले पान का इक्का।' पैकेट से सर्र-से काले पान का इक्का निकलकर लाठी के सिरे पर अटक गया और थरथर काँपने लगा।

मैजिक देखने के कई दिन बाद बकुल बागान और श्यामानन्द रोड के मोड़ पर उस जादूगर से मुलाकात हुई। उम्र पचास-पचपन, धोती और शर्ट पहने हुए, देखने पर कौन कहेगा कि उनमें इतनी ताकत है। मैजिक में मेरा बहुत शौक था, मन-ही-मन मैं उनका चेला बन गया। मैंने उनसे कहा, 'मैं आपसे मैजिक सीखना चाहता हूँ।' 'जरूर सीखोगे' कहकर उन्होंने अपनी जेब से ताश का एक पैकेट निकाला और रास्ते में खड़े-खड़े ही मुझे एक बहुत मामूली मैजिक सिखा दिया। उसके बाद उन सज्जन से कभी मुलाकात नहीं हुई। अचानक सामने पड़े थे, इसलिए घबराकर उनका पता लेना भूल गया। बाद में, मैजिक की किताबें खरीदकर हाथ-सफाई के बहुत सारे मैजिक शीशे के सामने खड़े होकर खुद ही अभ्यास करके सीखे थे। कालेज तक मुझे मैजिक का नशा था।

सर्कस तो अभी भी हर साल आता है, हालाँकि उन दिनों हार्मस्टोन सर्कस में गोरे लोग खेल दिखाते थे, और आजकल अधिकतर मद्रासी सर्कस हैं। जो आजकल नहीं दिखता, वह है कार्निवल। हमारे बचपन में सेण्ट्रल एवेन्यू के दोनों ओर बड़े-बड़े मैदान थे। कलकत्ते का पहला 'हाई-राइज'—दस मंजिला टावर हाउस उस समय तक नहीं बना था, इलेक्ट्रिक सप्लाई का विक्टोरिया हाउस भी तब तक नहीं बना था। इन मैदानों में से एक में सर्कस के पास ही कार्निवल बैठता था।

कार्निवल में जो मजे थे वह आज के लड़कों को समझाना मुश्किल है। मेले में चर्खी सभी ने देखी है, मगर कार्निवल में चर्खी या जायण्ट व्हील पाँच मंजिला मकान के बराबर ऊँचा है। बहुत दूर से घूमते हुए जायण्ट व्हील की रोशनी दिखती थी। इस चर्खी के अलावा रहती थी—मेरी-गो-राउण्ड, हवाई जहाज का चक्कर, खेल-मोटरगाड़ियों की टक्कर, लहरदार अलपाइन रेलवे तथा और भी कितना कुछ। इन्हीं तमाम चीजों के इर्द-गिर्द फैले रहते थे तरह-तरह के जुए के स्टाल।

इन स्टालों में इतनी अदेखी चीजें सजी रहती थीं कि लालच सँभालना मुश्किल होता था। आखिर में, खुले में जुआ खेलना गैर-कानूनी करार दिये जाने पर कलकत्ता शहर से कार्निवल गायब हो गया। असली आमदनी कार्निवल को शायद इस जुए से ही होती थी।

भवानीपुर में जब पहले-पहल आया, तब तक फिल्में बोलती नहीं थीं। उस समय के विलायती हाउसों में चलनेवाली फिल्म में बात-चीत की बजाय गोरों के बजाये हुए प्यानो या सिनेमा-आर्गन सुनायी पड़ते थे। यह सिनेमा-आर्गन कलकत्ते के सिर्फ एक ही थियेटर में था। वह था मदन, या पैलेस ऑफ वैराइटीज। आजकल इसका नाम एलिट सिनेमा है। आर्गन का नाम Warlitzer था, और उसकी आवाज बहुत ही शाही-सी थी। जो साहब इस यन्त्र को बजाते थे उनका नाम वायरन हपार था। दिखायी जानेवाली फिल्म के साथ हपार साहब कौन-कौन-सी धुनें बजायेंगे, उसकी सूची रोज अखबारों में दी जाती थी।

देखी हुई फिल्मों में से इन दिनों सबसे अधिक याद हैं—Ben Hur, Count of Montecristo, Thief of Bagdad और Uncle Tom's Cabin। ग्लोब में उन दिनों फिल्म के साथ स्टेज पर नाच-गाने का इन्तजाम था। आजकल जैसे सिनेमा-थियेटर में जाकर हम देखते हैं कि कपड़े का एक पर्दा झूल रहा है, उन दिनों उसके अलावा एक और पर्दा रहता था। विज्ञापनों से भरे इस पर्दे को सेफ्टी कर्टेन कहते थे। सबसे पहले यह पर्दा उठता था, फिर थोड़ी देर बाद कपड़े का पर्दा। ग्लोब में कपड़े का पर्दा उठते ही स्टेज निकल आता था। उसमें रंग-तमाशा खत्म होने के बाद सिनेमा का सफेद स्क्रीन उतर आता था। उसके बाद फिल्म शुरू होती थी। पर्दे के एक किनारे प्यानो रहता था। फिल्म की घटनाओं के साथ तालमेल रखकर, जब तक फिल्म चलती रहती, साहब लोग बाजा बजाते रहते थे।

Uncle Tom's cabin फिल्म देखते हुए एक मजेदार घटना हुई। घर के सब लोग मिलकर ग्लोब में सिनेमा देखने गये। निग्रो दास अंकल टाम अपने हैवान मालिक साइमन लेग्री के कोड़े खाकर दुमंजिले से

गिरकर मर गया। हम सबका गुस्सा लेग्री पर था। फिल्म में अन्त में टाम भूत बनकर मालिक के पास लौट आता है। मालिक उस भूत पर भी कोड़े चलाता है, टाम हँसते हुए उसकी ओर आगे बढ़ आता है। कालू मामा मेरी बगल में बैठे मुँह बाये फिल्म देख रहे थे कि अचानक और अपने को न रोक पाने की दशा में सीट छोड़कर उठ खड़े हुए और चीखने लगे—'साले, अभी भी कोड़े लगाता है! अभी भी कोड़े लगाता है? शैतान! ···अब समझ में आयेगा तुझे अपने पाप का फल!'

1928 में हालीवुड में पहली बोलती फिल्म बनी। उसके एक साल बाद ही कलकत्ते में टाकी सिनेमा आया। उसके बाद भी करीब साल-भर तक ऐसी काफी फिल्में आयीं जिनके कुछ हिस्से बोलते हुए हैं और कुछ नहीं। जो फिल्म पूरी-की-पूरी बोलती हुई होती थी, अखबार में उसका विज्ञापन '100% टाकी' दिया जाता था। 'टार्जन दी एपमैन' मेरी देखी हुई शायद पहली टाकी थी। यह फिल्म ग्लोब में आयी थी। पहले दिन गया तो टिकट नहीं मिला। मेरे एक मामा मुझे लेकर गये थे। मेरा चेहरा देखकर शायद उन्हें दया आयी, सोचा कि आज कुछ देखे बगैर घर लौटना उचित नहीं होगा।

पास ही अलबियन थियेटर था, जिसका नाम अब रीगल है। वहाँ टिकट मिल रहा था, मगर वह बंगला फिल्म थी, और बोलती हुई तो कतई नहीं थी। फिल्म का नाम 'काल परिणम' था। वह बच्चों के लायक नहीं है, यह तो थोड़ी-सी देखने के बाद ही मैं समझ गया था। मामा ने मेरी ओर देख दबी जुबान से कई बार पूछा, 'घर चलोगे?' मैंने उस सवाल को अनसुना कर दिया। एक बार जब अन्दर आया हूँ तो पूरी फिल्म देखे बगैर क्या निकला जा सकता है? हालाँकि इस 'काल परिणम' से मेरे मन में जो थोड़ी अरुचि पैदा हुई थी, उसने मुझे लम्बे अर्से तक बंगला फिल्म के करीब नहीं जाने दिया।

जिन मामा के साथ मैं यह फिल्म देखने गया था, वे थे लेबू मामा। माँ के मौसेरे भाई। कालू मामा की तरह ये भी ढाका से नौकरी की तलाश में कलकत्ता आये थे। इनको भी मेरे मामा के यहाँ जगह मिली थी। यहीं माँ के एक और मौसेरे भाई की बात कह देनी चाहिए

क्योंकि ठीक ननी मामा जैसे आदमी मैंने ज्यादा नहीं देखे। छह फुट लम्बा, तीर की तरह सीधा शरीर, पीछे कन्छा मारे हुए छोटी धोती, थ्री-क्वार्टर हाथवाली छोटी खादी का कुर्ता। ये मिलेटरी-मिजाज से तेजी से चलते थे और ठेठ पूर्वी बंगाल की बोली में बहुत ही चिल्ला-कर बात करते थे। जो लोग गाँव के हैं उन्हें स्वाभाविक रूप से खेत-मैदान में गला खोलकर बात करनी पड़ती है। वही आदत शायद बड़े होकर शहर में आने पर भी रह जाती है। पर, चिल्लाकर बात करने पर भी ननी मामा की बातों में एक जनानापन था। आदमी वे काम के थे, मगर जो काम वाकई अच्छी तरह करते थे वे सभी औरतों के काम थे। शादी नहीं की। यदि करते तो मुश्किल से ही कोई ऐसी लड़की उन्हें मिलती जो गृहिणीपन में उन्हें मात दे पाती! सिलाई और खाना पकाने, दोनों में ही वे उस्ताद थे। बाद में चमड़े का काम सीख-कर उस पर एक किताब ही लिख डाली थी। 'बंगालियों की मिठाई' नामक एक किताब की पाण्डुलिपि तैयार थी, मगर अन्त तक वह क्यों नहीं निकली, यह नहीं जानता।

इन्हीं ननी मामा से चमड़े का काम सीखकर माँ खुद भी धीरे-धीरे एक्सपर्ट बनी थीं। एक समय था जब माँ सारी-सारी दोपहर बैठकर वही काम करती थीं। चमड़े में जो रंग की जरूरत पड़ती है और उसके साथ जो स्पिरिट मिलानी पड़ती है, उसकी बू से घर हर वक्त भरा रहता था। कुशल हाथों के बने हुए बैगों, बटुओं और चश्मों के केस आदि की माँ ने कुछ बिक्री भी की थी। इसके भी बाद माँ ने मिट्टी की मूर्ति गढ़ने का काम उस जमाने के विख्यात शिल्पी निताई पाल से सीखा था। माँ की बनायी हुई बुद्ध और प्रज्ञापारमिता की मूर्तियाँ अब भी हमारे बहुत-से रिश्तेदारों के घर पर हैं।

इन तमाम खास कामों के अलावा जिन कामों को एक कुशल गृहिणी अच्छी तरह करती है वह तो माँ करती ही थीं। उसके साथ माँ के हाथ की लिखावट भी बहुत खूबसूरत थी। जैसी बंगला, वैसी ही अंग्रेजी।

सोना मामा के पास उस समय आर्सकिन सिडान गाड़ी थी,

जिसका नाम भी फिएट-एम्बेसेडर के इस जमाने में शायद ही किसी को याद हो। इस गाड़ी से हम कभी-कभी शाम को गड़ेरमाठ में घूमने जाते थे। उन दिनों गड़ेरमाठ में गोरे लोग गोल्फ खेलते थे, इसलिए निश्चिन्त होकर घूमने-फिरने का उपाय वहाँ नहीं था। किस वक्त किस ओर से बुलेट की तरह गेंद दौड़ आयेगी, कहा नहीं जा सकता था। एक बार मैं ज़रा अनमना-सा था, इसलिए एक गेंद जो सीधे मेरी ओर आ रही थी, उसे देख नहीं पाया। पर तभी अचानक ड्राइवर, सुधीर बाबू ने मुझे खींचकर हटा लिया, और गेंद हम दोनों के कानों की बगल से निकलकर रास्ता पार करती हुई विक्टोरिया मेमोरियल के रेलिंग की ओर चली गयी।

सुधीर बाबू हमारे घर की छत के कमरे में रहते थे। उस समय महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन चल रहा था कि सुधीर बाबू एक दिन अनायास एक बड़ी-सी तकली और बड़ा-सा रूई का गोला खरीद लाये और अपने कमरे में बैठकर उन्होंने सूत कातना शुरू कर दिया। यह उस असहयोग आन्दोलन का एक हिस्सा था। पर थोड़े ही दिनों में छुतहा बीमारी की तरह घर-घर सूत कातना शुरू हो गया। यहाँ तक कि मैंने भी शुरू कर दिया। महीने-भर में देखा, मैं भी अच्छा-खासा सूत कात रहा हूँ। मगर चैम्पियन सुधीर बाबू ही रहे। अपने हाथ के बने सूत से कोई और फतुआ नहीं बना सका।

कलकत्ता में उस समय एक विराट स्वदेशी मेला लगा था। हम सभी देखने गये थे। एलगिन रोड के मोड़ पर उन दिनों एक बड़ा-सा खेल का मैदान था। उसे जिमखाना क्लब का मैदान कहा जाता था। अब वहाँ मकान बन गये हैं। उस मैदान में ही स्वदेशी मेला लगा था। मेले में सबसे गजब की चीज थी, राष्ट्रीय नेताओं की मोम की मूर्तियाँ। इन मूर्तियों की खासियत यह थी कि इनके हाथ-पाँव और सिर यन्त्र की मदद से हिलते-डुलते थे। पार्टिशन दिये हुए कमरों में अलग-अलग दृश्य। एक कमरे में महात्मा गाँधी जेल के कमरे के फर्श पर बैठे लिख रहे हैं, दरवाजे के बाहर सशस्त्र प्रहरी खड़ा है। महात्माजी के हाथ में कलम, घुटने के ऊपर पैड। पैड के ऊपरवाला हाथ लिखने की

भंगिमा में इधर-उधर चल रहा है, साथ ही सिर भी इधर-उधर हिल रहा है। और एक कमरे में भारत माता की विराट् मूर्ति, वे दोनों हाथों से देशबन्धु का शव ढो रही हैं। भारत माता देशबन्धु की ओर देख रही हैं, दूसरे ही क्षण आँखें बन्द कर विषण्ण होकर सिर फेर ले रही हैं। किसने उन मोम की मूर्तियों को बनाया था, यह याद नहीं है—शायद बम्बई का कोई कलाकार था। पर देखकर वाकई जीवन्त लगता था। पूरे कलकत्ता शहर में इन मूर्तियों को लेकर हलचल मच गयी थी।

मेरी दादी माँ हमारे साथ बकुलबागान में ही रहती थीं। गोरी, छरहरी, सुन्दरी थीं दादी माँ। कमाल का गाना गाती थीं। उनकी जुबान से सुना हुआ मैमनसिंह का गाना 'चर्खे का नाच देखते जा तू लोग' अभी भी कानों में गूँजता है।

साल शायद 1926 का था। एक बार मेरे तमाम मामा, मौसी—पति-पत्नी और बच्चे मिलकर कलकत्ता आये। ऐसे अवसर बहुत अधिक नहीं आते। मँझले मामा लखनऊ में रहते थे, बड़े मामा पटना में, बड़ी मौसी पूर्वी बंगाल के काकिना में, मौसा काकिना एस्टेट के मैनेजर। तय हुआ कि दादी माँ के साथ एक ग्रुप फोटो कराया जाय। उन दिनों बहुतों के घर पर कैमरा नहीं होता था, या होने पर वही चार-पाँच रुपये कीमत का बाक्स कैमरा; इसीलिए उससे अच्छी तस्वीर नहीं खिचती थी, कम-से-कम मढ़कर रखने लायक तो कतई नहीं। इसलिए किसी ऐसे खास अवसर पर फोटो खिचाने के लिए गोरों की दूकानें भी न हों, ऐसी बात नहीं, मगर उनमें से अधिकतर उत्तरी कलकत्ते में थीं। इन दूकानों में एक जमाने में, बोने एण्ड शेपार्ड तथा जानस्टन एण्ड हाफमैन, ये दो ही सबसे मशहूर थीं। उस समय इन दोनों दूकानों की उम्र लगभग सत्तर साल थी, और हालत भी पहले जैसी नहीं थी। इसलिए इनकी जगह नयी नामी कम्पनी थी एडना लारेंज। इनकी दूकान चौरंगी और पार्क स्ट्रीट के मोड़ पर चौरंगी मैनसन में थी। हम लोग—दादी माँ, माँ, मामा, मौसी, मौसा, मौसेरे भाई-बहन—कुल मिलाकर अट्ठारह लोग—एडना लारेंज की दूकान पर

हाजिर हुए।

पहले से ही कहा हुआ था, इसीलिए ग्रुप फोटो खींचने का सारा इन्तजाम साहब ने कर रखा था। बड़े हॉल में अगल-बगल छह कुर्सियाँ रखी हुई थीं। उन्हीं के बीचोबीच एक पर दादी माँ बैठीं। पुरुष लोग कतार में पीछे खड़े हुए, माँ, मौसी, मामियाँ बाकी कुर्सियों पर बैठीं, बड़े मामा की दो कम उम्र लड़कियाँ सामने स्टूल पर बैठीं और मैं माँ और दादी माँ के बीच में खड़ा हुआ। कमरे के अन्दर तस्वीर खींची जा रही है, फ्लैश या रोशनी का इस्तेमाल साहब लोग नहीं करेंगे (शायद उस समय इसका रिवाज नहीं था), बगल की खिड़कियों की कतार से जो रोशनी आ रही है, वही काफी है। बड़ा-सा कैमरा, लेंस के सामने बैठाया हुआ कैप शायद दो सेकण्ड के लिए खोलकर फिर बन्द कर दिया जायेगा। और इस दो सेकण्ड में ही तस्वीर खिंच जायेगी। उस समय ज़रा भी हिलना-डुलना नहीं चलेगा।

साहब के रेडी कहने पर सभी सकपकाये, नजर कैमरे की ओर। जो साहब फोटो खींचेंगे, उनकी बगल में एक और साहब, उनके हाथ में खंजड़ी बजाती हुई गुड़िया। पेट दबाने पर वह दोनों हाथों से खंजड़ी बजाती है। इस गुड़िया की जरूरत मँझले मामा के छोटे लड़के बाच्चू के लिए है। उसकी उम्र कुछ महीने की है, और वह अपनी माँ की गोद में बैठा है। उसकी नजर कैमरे की ओर रहे, इसलिए उन साहब ने कैमरे के पीछे खड़े होकर खंजड़ी बजाना शुरू किया, और मौका देख दूसरे साहब ने लेंस का कैप खोलकर, फिर बन्द करके तस्वीर खींच ली।

यह तस्वीर खींचने के चार-पाँच साल के अन्दर मेरी दादी माँ, बड़े मामा, और बड़ी मौसी का लड़का मानु दा गुजर गये। तब इसी एक ग्रुप फोटो से धनदादू ने इन तीनों की तस्वीरें अलग-अलग एनलार्ज कर दीं।

बकुलबागान में हम लोगों के साथ हमारी छोटी मौसी रहती थीं। गायिका के तौर पर उनका नाम था। हालाँकि उनका गाना जैसा हमने सुना, वैसा किसी बाहर के आदमी ने नहीं सुना, क्योंकि लोगों के सामने

गाते हुए मौसी का गला सूख जाता था।

एक दिन सुना, मौसी का गाना हिज मास्टर्स वायस के रिकार्ड पर निकलेगा, और वह गाना रिकार्ड कराने के लिए उन्हें ग्रामोफोन कम्पनी के दफ्तर जाना होगा। इन्तजाम बुला चाचा ने किया। कलकत्ते की सबसे बड़ी ग्रामोफोन की दूकान के मालिक के नाते शायद बुला चाचा की ग्रामोफोन कम्पनी में काफी कद्र थी।

बुला चाचा की लाल रंग की टी माडल फोर्ड गाड़ी से मौसी के साथ मैं भी कम्पनी के दफ्तर में गया। दफ्तर उस समय बेलेघाटा में था; बाद में दमदम में गया। साहब-कम्पनी में जाकर गाना रिकार्ड कराना है, कहते हुए दो दिन से मौसी का खाना और सोना हराम हो गया। बुला चाचा लगातार आश्वासन देते जा रहे हैं—डरने की कोई बात नहीं है, मामला बहुत आसान है, सब ठीक हो जाएगा। बुला चाचा ने खुद कभी गाना-वाना नहीं सीखा, मगर बाँसुरी में रवीन्द्र संगीत बजाते हैं, और दोनों हाथों से बहुत अच्छा आर्गन भी।

साहब-कम्पनी का साहब मैनेजर, साहब रेकार्डिस्ट। उन दिनों माइक्रोफोन नहीं था। एक चोंगे की ओर मुँह करके गीत गाना पड़ता था, वह गाना बगल के कमरे में घूमते हुए मोम के तवे पर छप जाता था।

मौसी सुबह से कितने गिलास पानी पी चुकीं, इसका कोई हिसाब नहीं। वहाँ जाकर उन्हें चोंगे के सामने खड़ा होना पड़ा, बगल के कमरे से शीशे की खिड़की के पीछे से मैं यह दृश्य देख रहा हूँ। रिकार्डिस्ट छोकरे ने आकर चोंगे को हिलाया-डुलाया और मौसी को ठीक जगह पर खड़ा कर दिया। उसके बाद मौसी के सामने ही उसने पैकेट से सिगरेट निकालकर उसे आसमान में उछाला, ओठों से रोका और सुलगाकर कमरे से निकल गया। बुला चाचा ने बाद में कहा था, कोई महिला गवैया आने पर ही यह रिकार्डिस्ट उन्हें दिखा-दिखाकर ऐसी कलाबाजियाँ करता है। मेरा खयाल है, साहब की उस सिगरेट-उछाल को देखकर मौसी का गला और सूख गया था।

चाहे जो हो, मौसी ने गाना गाया। सुनकर समझ गया कि उनकी झिझक पूरी तरह खुली नहीं, पर वही गाना एक दिन रिकार्ड बनकर

बाजार में निकला। उसके बाद काफी दिनों तक मौसी बहुत-से गाने रिकार्ड कराती रहीं। पहले थीं कनक दास, शादी के बाद कनक विश्वास हुईं।

बकुलबागान के हमारे मकान से पाँच मिनट पैदल चलकर श्यामानन्द रोड पर मेरे मँझले चाचा सुविनय राय रहते थे। इन्होंने ही एक दिन नये सिरे से 'सन्देश' पत्र निकाला। 1923 के सितम्बर में, पिताजी की मृत्यु के दो साल बाद ही 'सन्देश' बन्द हो गया। उस समय मेरी उम्र 'सन्देश' पढ़ने की नहीं थी। पर ताजा-ताजा निकलते ही हाथ में लेकर पढ़ने का अनुभव मुझे इसके इस दूसरे पर्व में हुआ। आवरण पर तिरंगी तस्वीर, हाथी दो पाँवों पर खड़ा है, सूँड़ पर बैलेंस की हुई है—सन्देश (बंगला मिठाई) की हँडिया। इस 'सन्देश' के पहले ही अंक से धारावाहिक रूप से रवीन्द्रनाथ की 'वह' निकली, और इसी में लीला मजुमदार ने पहली कहानी लिखी। अपनी कहानियों के साथ मजेदार तस्वीरें उस समय वे खुद बनाती थीं। अन्य चित्रकारों में आज के नामी-गिरामी शैल चक्रवर्ती थे, जिनका श्रीगणेश शायद इस 'सन्देश' से ही हुआ था।

और, बच्चों की एक बंगला मासिक पत्रिका जो उस समय निकलती थी और बहुत अच्छी लगती थी, वह थी रामधनु (इन्द्रधनुष)। रामधनु का दफ्तर बकुलबागान रोड और श्यामानन्द रोड के मोड़ पर था—हमारे घर से दो सौ गज के फासले पर। इस पत्र के सम्पादक मनोरंजन भट्टाचार्य के साथ मिलकर मुझे बहुत खुशी हुई थी, क्योंकि उनकी लिखी हुई जापानी जासूस हुकाकाशि की कहानी 'पद्मराग' और 'घोष चौधुरी की घड़ी' मुझे गजब की लगी थी।

बकुलबागान में रहते वक्त ही मैं पद्मपुर के भवानीपुर स्वीमिंग क्लब में पहली बार तैरना सीखने गया। उस समय प्रफुल्ल घोष ने बदन पर ताजा-ताजा चर्बी लगाकर 76 घण्टे लगातार तैरकर विश्व-रेकार्ड स्थापित किया, और लगभग उसी वक्त विश्व-चैम्पियन अमरीकी तैराक जानी वाइसमूलर ने टार्जन की भूमिका में अभिनय करके हमें चौंका दिया। स्वीमिंग क्लब के कमरे की दीवार पर वाइसमूलर की

दस्तखत की हुई फ्रेम में लगी तस्वीर देखकर क्लब के बारे में श्रद्धा बढ़ गई थी। रविवार की सुबह बाँस पकड़कर पानी में पाँव फेंकने से शुरू करके अन्त तक तैरकर तालाब के इस पार से उस पार होने में कई साल बीते।

स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए बचपन में कसरत का रिवाज अब कितना है पता नहीं, मगर हमारे समय में वह था। सुबह उठकर डण्डबैठकी बहुत लोग लगाते थे। जो लोग शरीर के बारे में और अधिक सचेत थे, वे उमबेल, चेस्ट एक्सपैंडर भी नहीं छोड़ते थे। व्यायाम के बारे में मेरा आग्रह नहीं था, मगर छोटे दादू प्रमोदरंजन राय के कारण उससे बच नहीं पाया। छोटे दादू ने खुद दुर्गम पहाड़-जंगल नापने का काम किया, दुस्साहसी एडवेंचर की जिन्दगी बितायी। पुरुषों में जनानापन वे बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर पाते थे; यहाँ तक कि रवीन्द्रनाथ के गर्दन तक लहरदार बालों पर भी उन्हें आपत्ति थी। छोटे दादू के बहुत सारे लड़के, सभी मुझसे उम्र में बड़े, सभी वर्जिश करते थे। मैंने भी जाकर उनका दल बड़ा किया।

व्यायाम की बात ही जब उठी है तो अब मैं अपने युयुत्सु (जूडो) सीखने की घटना भी बता दूँ, हालाँकि वह 1934 की घटना है। उस समय मैं बकुलबागान छोड़ बेलतला रोड पर चला गया था।

युयुत्सु पहली बार मैंने शान्ति निकेतन में देखा। उस वक्त मेरी उम्र दस साल थी। पौष मेले में शान्ति निकेतन गया था। नयी आटोग्राफ बुक खरीदी। मेरी बहुत इच्छा हुई कि उसके पहले पृष्ठ पर रवीन्द्रनाथ से एक कविता लिखवा लूँ।

एक दिन सुबह माँ के साथ उत्तरायण में गया। कापी दी तो रवीन्द्रनाथ ने कहा, 'इसे मेरे पास रहने दो, कल सुबह आकर ले जाना।'

उनके कहने के अनुसार—दूसरे दिन गया। टेबुल के ऊपर चिट्ठी-पत्री, कापी-किताबों का जंगल। उसके पीछे बैठे हैं रवीन्द्रनाथ, जो मुझे देखकर उस जंगल में मेरी छोटी-सी बैंगनी कापी तलाशने लगे। तीनेक मिनट टटोलने के बाद वह कापी निकली। उसे मुझे देकर माँ

की ओर देखकर उन्होंने कहा, 'इसका मतलब ज़रा बड़ा होने पर समझेगा।' कापी खोली और पढ़कर देखी—आठ पंक्तियों की एक कविता, जो आज बहुतों को याद है--

बहुत दिनों से बहुत कोस दूर पर
बहुत खर्च करके बहुत देश घूमकर
देखने गया हूँ पर्वतमालाएँ
देखने गया हूँ सागर।
दो आँखें खोल नहीं देखा
घर से सिर्फ दो कदम की दूरी पर
एक धान की बाली पर
एक ओंस की बूँद को॥

7 पौष, 1936
शान्ति निकेतन — श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इस बार ही युयुत्सु या जूडो का नमूना देखा। प्राचीन युग में, चीन के बौद्ध लामाओं ने दस्युओं के खिलाफ बिना हथियार लड़ने तथा आत्मरक्षा के इस कौशल को ईजाद किया था। चीन से वह जापान गया, उसके बाद जापान से जूडो सारी दुनिया में फैल गया। जापान जाकर रवीन्द्रनाथ ने जब जूडो देखा तो तय किया कि शान्ति निकेतन के लड़कों को इसे सिखाने का इन्तजाम करना होगा। कुछ दिनों के बाद ही अब जूडो एक्सपर्ट ताकागाकि शान्ति निकेतन में आये, और जूडो की क्लास शुरू हो गयी। पर पता नहीं क्यों यह क्लास चारेक साल से ज्यादा नहीं चली। अन्त में ताकागाकि शान्ति निकेतन छोड़ कलकत्ता चले आये, और बालीगंज की स्वीन हो स्ट्रीट पर मेरे ही मौसा डॉ० अजित मोहन बोस के मकान की पहली मंजिल किराये पर लेकर वहाँ जूडो सिखाने का इन्तजाम किया।

बात नहीं, चीत नहीं; छोटे चाचा सुविमल राय ने हमारे मकान पर आकर अचानक कहा, 'जूडो सीखना कैसा रहेगा?'

छोटे चाचा को जिन लोगों ने देखा है उन्हें पता होगा कि उनके साथ व्यायाम या कुश्ती या इसी तरह की किसी चीज के सम्बन्ध की

कल्पना करना कितना कठिन है। दुबले-पतले, भोले-भाले आदमी, एम० ए० पास करने के बाद से स्कूल मास्टरी कर रहे हैं। ऐसे आदमी को युयुत्सु की जरूरत ही भला क्यों पड़ेगी या ऐसी इच्छा ही दिमाग में क्यों आयेगी? वही इच्छा, देखा एक दिन कारगर होने जा रही है, और मैं भी छोटे चाचा के साथ ट्राम से बालीगंज की स्वीन हो स्ट्रीट से जापानी जूडोनवीस के साथ बात करने जा रहा हूँ।

आज के बालीगंज और 1934 के बालीगंज में कितना फर्क है, इसकी कल्पना करना उसके लिए कठिन है जिसने उसे नहीं देखा। रासबिहारी एवेन्यू से कुछ दूर जाकर महानिर्वाण मठ छोड़ने के बाद, पक्के मकान लगभग दिखते ही नहीं थे और सड़क के दोनों ओर आम, जामुन, कटहल और झाड़झंखाड़ मिलाकर लगभग देहात-सा चेहरा था उसका।

गड़ियाहाट के मोड़ पर उतरकर खाई-खन्दक और बँसवाड़ी, ताड़, नारियल से भरे मैदान पार कीजिए—तब स्वीन हो स्ट्रीट। शायद टेलिफोन से पहले ही सूचित किया हुआ था, इसलिए मौसा का घर तलाशकर और उसकी निचली मंजिल की बैठक में बैठकर बँगनी किमोनो पहने जूडो विशेषज्ञ तागागाकि के साथ बातचीत पक्की कर लेने में कोई दिक्कत नहीं हुई। उनकी उम्र लगभग चालीस की थी, काले कदमछाँट बालों के साथ फबती घनी काली भौंहें और मूँछ। मेरा खयाल था, यह सुनकर कि छोटे चाचा जूडो सीखना चाहते हैं, तागागाकि हँस पड़ेंगे। मगर ऐसा कुछ तो उन्होंने किया ही नहीं, बल्कि ऐसा रुख अपनाया कि जूडो छात्र के रूप में छोटे चाचा एकदम आदर्श हैं। बातचीत के बाद दर्जी आकर जूडो की कमीज के लिए नाप ले गया। खादी टाइप मोटे सफेद कपड़े की बनी जैकेट, बेल्ट और छोटा पाजामा। जैकेट में सीने के ऊपर काले धागे से सिला बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ JUDO।

कमीज तैयार होने के बाद दस इंच मोटे गद्देदार बिस्तर बिछे कमरे में जूडो सीखना शुरू किया। पैंतालीस साल बाद जूडो के महज दो ही दाँव याद थे—शेवई नागे और निप्पन शिओ। सीखने की

शुरुआत में सिर्फ गाछाड़ा खाओ और गाछाड़ा मारो। चोट न खाकर किस तरह गाछाड़ा खाना पड़ता है, यह जूडो की बिलकुल शुरुआती सीख है। तागागाकि ने बता दिया था—जब गिरोगे, बदन को बिलकुल ढील दे दोगे, फिर दर्द कम होगा, और हड्डियाँ टूटने की सम्भावना भी कम हो जायेगी। गाछाड़ा का मतलब, एकदम सिर के ऊपर उठाकर पटकना। जूडो की कला से बारह-तेरह साल का लड़का भी एक मोटे-ताजे आदमी को कितनी आसानी से गाछाड़ा मार सकता है, यह ताज्जुब करने लायक बात है।

हम लोग जिस दिन सीखते थे उस दिन दो और सज्जन आते थे—एक बंगाली, एक साहब। बंगाली, हम लोगों की तरह ही नौसिखिया थे और साहब, फोर्ट विलियम निवासी फौजी आदमी कैप्टन ह्यूज। वे बॉक्सिंग में कलकत्ते के लाइट हेवीवेट चैम्पियन थे। काफी सुपुरुष चेहरा, तीखे नाक-नक्श, छोटे-छोटे छँटे हुए लहरदार सुनहले बाल। जूडो में इनके लिए सीखने को कुछ नहीं था। वे खद ही एक एक्सपर्ट थे। कलकत्ते में प्रतिद्वन्द्वी की कमी के कारण वे तागागाकि के साथ कुछ देर लड़कर अपनी विद्या को ज़रा माँज लेते थे। वह लड़ाई देखने लायक चीज थी, और हम मन्त्रमुग्ध होकर देखते थे। दाँव-पर-दाँव, गाछाड़ा-पर-गाछाड़ा, और कोई भी एक दिक्कत में फँसने पर दाहिने हाथ से गद्दी पर लगातार दो थप्पड़ मारकर इसे जता देता था और दूसरा उसका दाँव ढीला करके उसे रिहाई देता था।

अन्त में तागागाकि हमें ओवाल्टिन पिलाते थे और शाम के अँधेरे में जंगली मैदान पार करके भवानीपुर की ट्राम पकड़कर हम लोग अपने-अपने घर लौट आते थे।

उत्तरी कलकत्ते से दक्षिण में चले आने की वजह से बाप की ओर से रिश्ते-नातेदारों के साथ सम्पर्क कम हो जाने पर भी, धनदादू और छोटे चाचा अकसर हमारे घर आते थे। दादू उस वक्त कानन डायल की कहानी-उपन्यास का बंगला में अनुवाद कर रहे थे। लिबास में साहबी रुख, बरकत अली की दूकान से सूट बनवाते थे, शाम को घर से निकलने पर टाई पहनकर निकलते थे। ट्राम का मासिक टिकट था,

हफ्ते में कम-से-कम तीन दिन हमारे यहाँ अवश्य आते थे।

भवानीपुर में रहते ही दादू से पूरी महाभारत की कहानी सुनी थी। एक-एक दिन में एक-एक अध्याय। किसी खास घटना को दादू से कम-से-कम चारेक बार सुनते थे। उस समय महाभारत में सबसे अधिक रोंगटे खड़ी कर देनेवाली घटना जयद्रथ-वध लगती थी। जयद्रथ कौरवों के पक्ष का सबसे बड़ा योद्धा है। बहुत कोशिश करके भी अर्जुन उसे मार नहीं सका। आज उसने शपथ ली है कि जयद्रथ को मार न पाने पर वह स्वयं आग में जल मरेगा। इस शपथ की बात कौरवों ने भी सुनी है। युद्ध सूर्यास्त तक चलता है। सूर्य डूबने-डूबने को है, पर अब तक अर्जुन कुछ नहीं कर सका। ऐसे वक्त पर अर्जुन के सारथी कृष्ण ने मन्त्र के द्वारा चारों ओर अन्धकार फैलाकर सूर्य को ढँक दिया। दिन खत्म हो गया मानकर कौरवों ने ढील दी और उसी मौके पर अर्जुन ने एक तीर से जयद्रथ का सिर उड़ा दिया।

मगर यहाँ भी मुश्किल थी। जयद्रथ के पिता राजा वृद्धक्षत्र ने लड़के के जन्म के समय देववाणी सुनी थी कि लड़ाई के मैदान में उसका सिर कट जायेगा। सुनकर उन्होंने अभिशाप दिया था कि कटा हुआ सिर जमीन पर गिरते ही, जिसने गिराया है उसका खुद का सिर फट जायेगा। कृष्ण को यह पता था इसीलिए उन्होंने अर्जुन को आगाह कर दिया था—देखना, जयद्रथ का कटा हुआ सिर कहीं जमीन पर न गिरे; नहीं तो तुम्हारा सिर भी फट जायेगा। अर्जुन ने इसीलिए एक तीर से जयद्रथ का सिर काटकर उसके जमीन पर गिरने से पहले ही लगातार छः तीर मारकर उसे आसमान में उड़ाते हुए बहुत दूर तपस्या कर रहे जयद्रथ के वृद्ध पिता वृद्धक्षत्र की गोद में गिरा दिया। वृद्धक्षत्र अपने लड़के का सिर गोद में देखते ही चौंके। और जैसे ही वे उठकर खड़े हुए कि जयद्रथ का कटा सिर धरती पर लुढ़कने लगा और साथ-ही-साथ उनका अपना सिर भी फट गया।

दादू के पास जिस तरह महाभारत की कहानी सुनता था, उसी तरह छोटे चाचा के पास भूत की कहानी सुनता था। छोटे चाचा के बारे में थोड़े-से शब्दों में कुछ कहना मुश्किल है, क्योंकि ठीक उन जैसा

कोई और आदमी भी है, इसमें शक है।

छोटे चाचा सिटी स्कूल में मास्टरी करते थे। छोटी धोती, ढीली बाँहवाला कुर्ता, कन्धे पर चद्दर, हाथ में छतरी और पाँव में ब्राउन रंग की कैम्बिस का जूता देखते ही उनके पेशे का अन्दाज लगाया जा सकता था। छोटे चाचा ने शादी नहीं की, अकेले आदमी। शायद इसीलिए उनका काम पैदल या बस से नियमित चारों ओर के रिश्ते-नातेदारों की खोज-खबर लेना था। मेरा विश्वास है, हम लोगों के विस्तृत और विराट राय परिवार के सभी लोगों को केवल छोटे चाचा ही जानते थे।

मजेदार आदमियों के सपने भी मजेदार होते हैं, यह नहीं जानता। पर छोटे चाचा के सपने की बात सुनकर यही लगता था। एक बार सपने में देखा, एक जगह काफी जमकर कीर्तन हो रहा है। थोड़ी देर सुनने के बाद समझा कि गाने की सिर्फ एक ही पंक्ति है—'सत्य बैगन जलता है।' किस तरह यह पंक्ति गायी जा रही थी, छोटे चाचा ने वह भी खुद गाकर सुनाया था। एक और सपने में देखा कि कलकत्ते की सड़क पर जुलूस निकला। आदमियों का नहीं, बन्दरों का! उनके हाथ में झण्डा है, और वे नारे लगाते हुए चल रहे हैं—'ताकत चाहिए! ताकत चाहिए! अफीम में और भी ताकत चाहिए!'

रिश्तेदारों में बहुतों को छोटे चाचा उनके खुद के दिये हुए नामों से पुकारते थे। सिर्फ यही नहीं, उनके बारे में कुछ कहना हो तो उसी नाम से कहते थे। बार-बार उनकी जुबान से सुनकर वे तमाम नाम हम लोगों के परिचित हो गये थे। हमें पता था कि 'डिडाबस' हैं धनदादू; 'वोरोइड' हैं मँझले ताऊजी; 'वांग' हैं धनदादू की लड़की तुतु बुआ, 'गोग्रिल' हैं धनदादू के लड़के पानक चाचा, छोटी कुसुम पुआ और बड़ी कुसुम पुआ हैं मेरी बुआ की लड़की नीनीदी और रूबीदी। वज्र बौठान हैं माँ, तुलमुलि हूँ मैं। कब किस तरह यह नामकरण हुआ, किसी को भी पता नहीं। एक बार पूछा था कि ताऊजी का नाम वोरोइड क्यों हुआ? उस पर छोटे चाचा ने गम्भीर होकर जवाब दिया था, 'वे बहुत भोर में जो उठते हैं, इसलिए।' खुद बहुत अधिक धार्मिक

न होने पर भी, साधु-संन्यासियों के बारे में उनका एक स्वाभाविक कौतूहल था। वे उनकी जीवनी पढ़ते थे, और जीवनी से जिन पर चाचा की श्रद्धा हो जाती थी, उनके शहर में आते ही उनसे जाकर मिल आते थे। तिब्बती बाबा, तैलंग स्वामी, विजय कृष्ण गोस्वामी, सन्तदास बाबाजी, रामदान कठिया बाबा—इन तमाम साधुओं के बारे में छोटे चाचा से जाने कितनी कहानियाँ सुनी हैं।

अकेले आदमी, अपनी धुन में रहते थे, थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाते थे, इसीलिए कभी-कभी छोटे चाचा एक संन्यासी ही लगते थे। इसके अलावा उनकी कुछ सनकें भी थीं, जो आम लोगों में ज्यादा नहीं दीखतीं। मुँह में कौर लेकर बत्तीस बार चबाने की बात तो पहले ही कह चुका हूँ; सुबह मुँह धोते समय थोड़ी देर तक नाक से पानी खींचकर मुँह से निकालना। इसका नाम था नाकीमुद्रा। इसके अलावा काकीमुद्रा के नाम से भी एक चीज थी, पर क्या थी अब याद नहीं है। शाम को शवासन में काफी देर तक लेटे रहते थे, और उसके बाद छतरी लेकर निकल पड़ते थे।

खाना, आराम, काम, टहलना, गप्प लड़ाना—सब कुछ के बीच-बीच में छोटे चाचा का डायरी लिखना चलता था। यह बात मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि इस तरह की डायरी किसी और ने नहीं लिखी। इसमें अखबार में पढ़े हुए जरूरी समाचारों की सुर्खियों से लेकर लगभग हर घण्टे क्या किया, क्या पढ़ा, क्या खाया, कहाँ गये, क्या देखा, कौन आया—सारा कुछ विवरण होता था। ट्रेन से बाहर जाने पर उसमें किस 'टाइप' का इंजन है यह भी लिख रखते थे। इंजन का भी जो वर्ग-विभाजन होता है यह पहली बार छोटे चाचा से ही जाना। एक्स पी, एच पी एस, एस बी, एच बी—ये तमाम टाइप के नाम हैं। उन दिनों कोयले के इंजन के बदन पर ही वह लिखा रहता था। कहीं जाना हो तो छोटे चाचा थोड़ा पहले ही पहुँचते थे, क्योंकि सामान डब्बे में रखकर झट से इंजन का टाइप देख आना पड़ेगा। अगर किसी कारण देर हो जाती, तो पहला बड़ा जंक्शन आते ही डिब्बे से उतरकर यह काम कर आते थे।

वह डायरी लाल, नीली, हरी और काली—इन चार तरह की स्याहियों से लिखी जाती थी। एक ही वाक्य में चार तरह के रंग का इस्तेमाल हो रहा है, इसका नमूना छोटे चाचा की डायरी में बहुत देखा। इस रंग बदलने का एक नियम था, मगर वह कभी भी मेरे लिए साफ नहीं हुआ। इतना पता था कि प्राकृतिक वर्णन हरी स्याही से होगा और विशेष्य होने पर लाल स्याही का इस्तेमाल होगा। जैसे, 'आज घनघोर बारिश थी। माणिक लोगों के घर नहीं जा पाया'—एक के बाद दो वाक्य अगर यही हों, तो पहला हरी स्याही से लिखा जाएगा, दूसरे के पहले दो शब्द लाल में, और बाकी काली या नीली में लिखे जायेंगे। तख्त के ऊपर चौकी, और उसके ऊपर स्याही तथा कलम की दूकान सजाकर छोटे चाचा जब बहुत ही ध्यान से डायरी लिखते थे, तो वह देखने लायक दृश्य होता था।

यहाँ डायरी की एक और बात न कहने से काम नहीं चलेगा।

छोटे चाचा पेटू न होने पर भी, बहुत तृप्ति के साथ खाते थे। आज इसके यहाँ, कल उसके यहाँ जाकर चाय पीना उनके लिए एक खास घटना थी। डायरी में इसका उल्लेख रहता था, मगर मामूली ढंग से नहीं। जो चाय पी उसका एक विशेषण, और कोष्ठक के अन्दर उस विशेषण की व्याख्या रहती थी।

एक महीने की डायरी से बारह उदाहरण दे रहा हूँ। इससे बात साफ होगी :

1. नृसिंहभोग्य चाय (भैरवकान्ति-जनक, हुहुँकार प्रसादक, जोरदार चाय)।
2. वैष्णवभोग्य चाय (निरीह, सुमिष्ट, सुकोमल, अहिंसक चाय)।
3. विवेकानन्दभोग्य चाय (कर्मयोग स्पर्धावर्द्धक, वाग्विभूतिप्रद, तत्त्वनिष्ठा के अनुकूल चाय)।
4. भट्टाचार्यभोग्य चाय (विज्ञतावर्द्धक, गाम्भीर्यप्रद, अनुग्र, हृद्म चाय)।
5. धन्वन्तरीभोग्य चाय (आरोग्यवर्द्धक, आयुवर्द्धक, रसायन-गुणसम्पन्न चाय)।

6. पहरादारभोग्य चाय (सतर्कतावर्द्धक, उत्तेजक, तन्द्रानाशक चाय)।
7. महफिली चाय (मशगुल-मशगुल भावोद्रेककारी चाय)।
8. किरानीभोग्य चाय (हिसाब-किताब देखने में उत्साहवर्द्धक, बादामी स्वादवाली चाय)।
9. हवलदारभोग्य चाय (हिम्मतप्रद, डींग हाँकने में उकसानेवाली चाय)।
10. जनसाधारणभोग्य चाय (वैशिष्टहीन चालू चाय)।
11. नारदभोग्य चाय (संगीतानुरागवर्द्धक, तत्त्वज्ञान प्रसादक, भक्तिरसोद्दीपक चाय)।
12. हनुमानभोग्य चाय (विश्वसनीयतावर्द्धक, समस्या-समुद्र लाँघने में शक्तिदायक, विक्रमप्रद चाय)।

छुट्टी में बाहर

गड़पार से भवानीपुर आने के दो-एक साल के अन्दर ही माँ ने विधवाओं के स्कूल विद्यासागर वाणीसदन में नौकरी ली। उसके लिए माँ को रोज बस से गड़पार के आसपास ही जाना पड़ता था। मेरी पढ़ाई-लिखाई का दायित्व भी माँ पर था, नौ साल की उम्र में मैं स्कूल में भर्ती हुआ। गर्मी में और पूजा के समय माँ की जब छुट्टी होती थी, तब बीच-बीच में हम दोनों बदलाव के लिए कलकत्ता से बाहर चले जाते थे।

इससे पहले गड़पार में रहते समय, पिताजी के गुजर जाने के बाद भी, कई बार बाहर गया हूँ, उनमें दो बार की बात थोड़ी-थोड़ी याद है।

एक बार लखनऊ जाकर कुछ दिन माँ के मौसेरे भाई अतुलप्रसाद सेन के घर, और कुछ दिन अतुलप्रसाद की बहन छुटकी मौसी के घर रहा। अतुल मामा खुद गाना लिखते थे, उस गाने को माँ को सिखाकर उनकी एक काली कापी में लिख देते थे। उस समय रविशंकर के गुरु अलाउद्दीन खाँ अतुल मामा के घर पर थे और बीच-बीच में प्यानो बजाते थे। एक दिन उन दिनों के नामी गायक श्रीकृष्ण रतनजंकर आये। मुझे साफ याद है, उन्होंने विख्यात भैरवी 'भवानी दयानी' गाकर सुनायी थी। इस गाने को तोड़कर अतुल मामा ने लिखा, 'सुनो वह पुकारे मुझे।'

एक दिन अतुल मामा और माँ के साथ मुझे भी एक भाषण सुनने

जाना पड़ा। शास्त्रीय गान के बारे में भाषण, वह भी अंग्रेजी में। मुझे बार-बार झपकियाँ आ रही थीं, और इसपर भी जान-बूझकर (या माँ की डाँट खाकर) यह अभद्रता कि जबर्दस्ती आँखें खुली रखने की कोशिश कर रहा हूँ। उस समय भला मुझे क्या पता था कि जो भाषण दे रहे थे, उनका नाम विष्णु नारायण भातखण्डे था, और उनके जैसे संगीत-विशारद पण्डित भारतवर्ष में बहुत ही कम पैदा हुए हैं।

छुटकी मौसी के घर मन जमा नहीं, क्योंकि मौसा श्रीरंगम् देशिकाचार शेषाद्रि आयंगर मद्रासी थे, और उनके तीनों लड़के-लड़कियाँ—मेरे मौसेरे भाई-बहन—अमर दा, कुन्तु दी और रमला दी, कोई बंगला नहीं बोलता था, नहीं जानता था। इसीलिए मुझे ज्यादा समय जुबान बन्द करके उनकी फर्राटेदार अंग्रेजी सुननी पड़ती थी। महज शाम को 'हैपी फेमिली' नाम का एक खेल खेलते समय उन लोगों के साथ मिल पाता था।

उस बार लखनऊ में छोटी मौसी भी हम लोगों के साथ गयी थीं। जाते वक्त या आते वक्त याद नहीं, माँ और मौसी इण्टरक्लास के लेडीज़ कक्ष में चढ़ गयीं; मेरे लिए वहाँ जगह नहीं हुई, इसलिए मुझे बगल के एक सेकेण्ड क्लास कक्ष में चढ़ा दिया गया। देखा, पूरे डिब्बे में लालमुँहा साहब और मेम हैं। मेरा सीना धुकधुक करने लगा। मुँह में जुबान नहीं। चढ़ गया हूँ, गाड़ी भी चल पड़ी है, उतर भी नहीं सकता। क्या करूँ, फर्श के एक कोने में चुपचाप बैठा रहा—रात-भर गोरों ने अगर मुझे बैठने देना चाहा भी, तो उनकी अंग्रेजी समझना मेरे बूते की बात नहीं थी। मेरा खयाल है, उन लोगों ने मेरी ओर ध्यान ही नहीं दिया।

बाद में भी कई बार लखनऊ गया हूँ। मँझले मामा वहाँ के बैरिस्टर थे। उनके दो लड़के मण्टू और बान्चू मुझसे कम उम्र होने पर भी मेरे खेल के साथी थे। शहर के प्रति एक लगाव-सा हो गया था। नवाबों के शहर के बड़े इमामबाड़े के भीतर का भूलभुलैया। गाइड साथ न हो तो भीतर घुसने पर फिर बाहर निकला नहीं जा सकता। गाइड बताता था, गोरों की एक पल्टन डींग हाँककर अकेले ही भूल-

वाली हालत की कल्पना करना असम्भव था। मौसा के लड़के-बच्चे बहुत सारे हैं। उनमें से बड़ा लड़का अमिय मेरे सोना मामा का दोस्त। दोनों को एकसाथ मुगा के धागे से बकुलबागान की छत से गुड्डी उड़ाते देखा है, हालाँकि गुड्डी उड़ाने की उम्र उन लोगों की नहीं, मेरी थी। न्यू रोडवाले घर में शादी होने पर जितनी धूमधाम होती थी, वैसी मैंने और कहीं नहीं देखी। लोगों को सिर्फ खिलाने का ही नहीं, उनके मनोरंजन का भी इन्तजाम रहता था। एक बार बड़ी लड़की की शादी में मौसा ने प्रोफेसर चित्तरंजन गोस्वामी की कामिक का इन्तजाम किया। उस समय कलकत्ते के सबसे नामी कॉमिक अभिनेता गोस्वामी महोदय ही थे। यह चीज अब धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है। घण्टे-भर तक एक व्यक्ति तरह-तरह के रंग-तमाशे से दर्शकों को जमाये रखेंगे, यह क्षमता आज किसी की भी नहीं है। चित्तरंजन गोस्वामी यह काम सहज ही कर सकते थे। अलीपुर की शादी में उनका एक कॉमिक मुझे आज भी याद है, क्योंकि उसे सुनकर मुझे लछमन के शक्तिशेल की बात याद आयी थी—

"रावण आया लड़ाई पर पहनकर बूट-जूता
(और) हनुमान मारते हैं उन्हें लात-थप्पड़ और घूँसा—
(नाम की महिमा, रामनाम की महिमा!)"

इस तरह शुरू होती थी, और अन्त की ओर थी—

"फट से छेदता है तीर दशानन का सीना
बाप रे बाप चीख-पुकार मचाये कमीना
(नाम की महिमा···!)
बीस हाथ से परवल चुनता है, दस मुँह से फूँकता सींगा
देखते-देखते रावणराज का उड़ा प्राण-पतिंगा।
(नाम की महिमा···!)

यह चीज, हालाँकि चित्तरंजन गोस्वामी की तरह कोई गा नहीं सकेगा। कॉमिक दिखाकर हमें लोट-पोट करते हुए अन्त में उन्होंने झटपट उन्नीस रसगुल्ले खा डाले।

अविनाश मौसा की एक आलीशान इतालवी गाड़ी थी, जिसका

नाम लैनसिया था। गाड़ी जब चलती थी तो बोनेट के सिरे पर काँच के एक पतिंगे के बदन से लपलपाकर गुलाबी रोशनी निकलती थी।

हम लोग जब दार्जिलिंग गये, तब तक कलकत्ते में माँ की नौकरी नहीं लगी थी। दार्जिलिंग में कुछ दिन रहने के बाद ही उन्होंने अचानक महारानी गर्ल्स स्कूल में मास्टरनी की नौकरी ले ली और उसके साथ ही मैं भी उस स्कूल में भर्ती हो गया। स्कूल विचित्र था। क्लासें बँटी हुई नहीं थीं। मैं एक बड़े हॉल में एक जगह बैठकर पढ़ रहा हूँ। दूर उस कोने में देख रहा हूँ और एक क्लास में माँ गणित सिखा रही हैं। कितने दिनों तक स्कूल में पढ़ा था, याद नहीं है। और वाकई कुछ पढ़ा था, या जब तक माँ की छुट्टी नहीं होती थी तब तक बैठाकर रखा जाता था, यह भी याद नहीं है।

इधर मन में टीस है, क्योंकि जब से आया हूँ, बादल और कुहरे की वजह से कंचनजंघा नहीं देख पाया। कलकत्ते के मकान की दीवार पर दादू की बनायी हुई कंचनजंघा की रंगीन तस्वीर टँगी थी, तस्वीर के उस कंचनजंघा से असली कंचनजंघा को मिलाकर देखने के लिए मन छटपटा रहा है। अन्त में, एलगिन विला में एक दिन भोर में माँ ने मुझे जगा दिया। दौड़कर खिड़की की बगल में गया।

दादा की तस्वीर में बर्फ पर बायीं ओर से शाम की धूप पड़ रही थी और यहाँ, आँखों के सामने, दाहिनी ओर से रंग पकड़ना शुरू होते देख रहा हूँ।

मैं मुँह बाये तब तक देखता रहा जब तक कि सूरज का रंग गुलाबी से सुनहला, सुनहले से रुपहला हुआ। इसके बाद अपने देश तथा दुनिया के विभिन्न देशों में बहुतेरे सुन्दर दृश्य देखे हैं, मगर सूर्योदय और सूर्यास्त के कंचनजंघा जैसा सुन्दर दृश्य और कहीं नहीं देखा।

छुट्टी में बाहर जाने पर सबसे ज्यादा मजा मँझली बुआ के घर आता था। बुआ के पति सदर डिप्टी अफसर थे। वे बिहार में कार्यरत थे। तबादले की नौकरी—कभी हजारीबाग, कभी दरभंगा, कभी मुजफ्फरपुर, कभी आरा—इस तरह घूमते हुए काम करना पड़ता था। पहली बार जब मैं उन लोगों के पास गया तो उस समय वे हजारीबाग में थे।

बुआ की दो लड़कियाँ नीनी और रूबी और माँ-बाप खोये उनके चचेरे भाई कल्याण और लतु, सभी मुझसे उम्र में बड़े और सभी मेरे दोस्त थे।

इसके बाद और भी कई बार हजारीबाग गया। पहली बार जाने की याद है, फूफा की हरे रंग की एक ओवरलैण्ड गाड़ी थी। उन दिनों की गाड़ी का लटखट चेहरा देखकर आज के लोगों को हँसी आयेगी। मगर वही ओवरलैण्ड जो कितनी लँगड़ी थी, और कितने झंझा के बीच भी अपना कर्तव्य-पालन करती आयी है, वह फूफा से सुनता था।

इस गाड़ी से ही हम राजरप्पा गये थे। हजारीबाग से चालीस मील दूर भेड़ा नदी को पार करके मील-भर चलने के बाद राजरप्पा। वहाँ रोंगटे खड़ी कर देनेवाली छिन्नमस्ता के मन्दिर को घेरकर दामोदर नदी के ऊपर का जल-प्रपात, बालू, दूर के जंगल और पहाड़—कुल मिलाकर विचित्र दृश्य।

लौटते हुए ब्राह्मणबेड़िया के पहाड़ के किनारे गाड़ी बिगड़ गयी। सुना, पहाड़ में शेर और भालू बहुत हैं। गाड़ी ठीक करते-करते रात हो गयी, मगर शेर-भालुओं के दर्शन नहीं हुए।

गाड़ी से कहीं जाना न हो तो फिर हम मिलकर शाम को पैदल टहलने निकलते थे। खाने के वक्त से ठीक पहले लौटते थे। टिमटिमाती लालटेन और किरोसिन लैम्प की रोशनी, उसके बीच बैठकर अड्डे-बाजी और खेल खूब जमता था। ताश का खेल था 'आइना मोहर' और 'गुलाम चोर'। 'गुलाम चोर' सभी को पता है, मगर 'आइना मोहर' खेल और किसी को कभी खेलते नहीं देखा। पर उस खेल का क्या नियम है, वह आज याद नहीं है।

और खेलों में एक मजेदार खेल था—'ह्विस्परिंग गेम'। पाँच-छह जने एक गोलाई में बैठकर इसे खेलते हैं। एक आदमी अपने बायें के आदमी के कान में फिसफिसाकर एक बात कहेगा। एक बार से अधिक नहीं कहेगा। उस एक बार में ही बायें वाले आदमी ने जो सुना, उसे ही उसने अपने बायेंवाले आदमी से कहा। इस तरह कानों-कान घूमती हुई बात जहाँ से शुरू हुई थी, उसके कान में ही लौट आयी। पर अन्त

तक बात क्या बनी, मजा इसी में है। मैंने एक बार शुरू करके बायें-वाले के कान में 'हाराधन के दस लड़के' कहा। अन्त में जब वह मेरे कान में लौटी तो 'लालची कानों में हाथी हँसता है' बन चुकी थी। दस-बारह लोग हों, खेल और अधिक जमता है।

हजारीबाग के बाद दरभंगा गया हूँ, उसके और बाद आरा। ये दोनों ही जगह हजारीबाग के मुकाबले कुछ भी नहीं हैं, मगर मेरे आनन्द में इससे कोई कमी नहीं हुई। इसी बीच नीनी-रूबी की चचेरी बहन डाली के आने से खेल का एक साथी और बढ़ गया।

दरभंगा में बहुत बड़े कम्पाउण्डवाला बँगला टाइप एकमंजिला मकान था। कम्पाउण्ड के एक ओर लम्बे-लम्बे शिशु गाछ, आम के पेड़ और न जाने कितने पेड़। घर के बायीं ओर खेल की जगह पर आम का एक और बड़ा-सा पेड़। वह झूला झूलने का पेड़ था।

हम लोग जब वहाँ गये तो बरसात का मौसम था। बारिश के बाद झूलेवाले पेड़ के नीचे की घासहीन धरती पर पतले-पतले नालों से बहता हुआ बारिश का पानी तेजी से नालियों में जाकर गिरता था। कागज की नाव बनाकर हम लोग नाले के पानी में तैरा देते थे। नाला अब नदी होती थी, और नाव नदी के सोते से तैरते हुए नाली-रूपी समुद्र में जा गिरती थी।

बीच-बीच में वह नाव वाइकिंग की नाव में बदल जाती थी। हजार साल पहले नार्वे में जलदस्यु थे जिन्हें वाइकिंग कहा जाता था। हम लोग मान लेते थे कि वाइकिंगों में से किसी के जलपथ में मर जाने पर उसे नाव पर ही दाह किया जाता होगा। कागज का जलदस्यु बनाकर और उसके मुँह में आग देकर हम कागज की नाव पर लिटा देते थे और फिर उस नाव को बारिश के पानी में छोड़ देते थे। यह थी 'वाइकिंग की अन्तिम क्रिया', हालाँकि वाइकिंग के साथ नाव भी जल जाती थी।

मैं जब आरा गया था, उस समय मेरी उम्र नौ साल की थी। लाल ईंट का विशाल मकान था फूफा का। बीच के आँगन को घेरकर बहुत-से कमरे; जहाँ तक याद पड़ता है, उनमें से अनेक का इस्तेमाल ही

नहीं होता था। दो मंजिले की छत के साथ भी कुछ कमरे थे, उन्हीं में से एक फूफा के काम का कमरा था। घर के साथ बगीचा भी था।

कल्याण दा हालाँकि मुझसे छह-एक साल के बड़े थे, मगर उस समय वे मेरे खास दोस्त थे। वे डाकटिकट जमा करते थे; उनकी देखादेखी मैं भी इकट्ठा करना शुरू किया, हिंज खरीदा, टुइजर (चिमटा) खरीदा, यहाँ तक कि एक मैग्निफाइंग ग्लास भी जुटाया ताकि स्टैम्प में छापे की कोई गलती है या नहीं, यह देख सकूँ। गलती रहने पर टिकट की कीमत बहुत बढ़ जाती है। देसी, विलायती कोई भी टिकट हाथ में आते ही आँख पर मैग्निफाइंग ग्लास। नहीं, इसमें कोई गलती नहीं देखी। इसीलिए शायद अन्त तक निरुत्साहित होकर टिकट इकट्ठा करना छोड़ दिया।

कल्याण दा की और एक भूमिका थी जिसे यहाँ कहा जाना चाहिए।

क्रिसमस के मामले में बचपन से ही जो लगाव था उसे पहले ही बता चुका हूँ। फादर क्रिसमस कहलानेवाला जो एक दाढ़ीवाला बूढ़ा आदमी है, और वह जो क्रिसमस की अगली रात को छोटे-छोटे बच्चों के कमरे में घुसकर, खाट की पाटी पर झूलते हुए उनके मौजे में खिलौने भर जाता है, यह मैं शायद पूरी तरह मानता था।

मँझली बुआ के घर पर जितने मजे थे, उतने और कहीं नहीं थे। इसीलिए उनमें से भला क्रिसमस क्यों बचा रह जाये? इसके लिए दिसम्बर महीने की क्या जरूरत? किसी भी महीने में तो क्रिसमस हो सकता है।

आरा में कल्याण दा जून के महीने में इसीलिए फादर क्रिसमस बन गये। मेरी खाट की पाटी में मोजा झुला दिया गया। रात को सोने का बहाना करके बिस्तर पर पड़ा रहा। रूई की दाढ़ी-मूँछ बनाकर कल्याण दा ने गोंद से चिपका लीं। पीठ पर एक थैला चाहिए, क्योंकि उसमें सामान रहेगा; और फादर क्रिसमस जो आ रहे हैं उसका पता चलना चाहिए। इसीलिए दूसरी चीजों के साथ थैले में टिन के कुछ खाली डिब्बे भी भर दिए गये हैं।

आधे घण्टे तक चुपचाप लेटे रहने के बाद झम्-झम्-झम्-झम् की

आवाज आयी।

थोड़ी देर बाद हल्के अँधेरे में देखा कि फादर क्रिसमस बने कल्याण दा थैला लेकर कमरे में घुसे, खाट की पाटी के पास रुके, और उसके बाद खुटखाट की आवाज से मैं समझ गया कि मेरे मौजे में कुछ चीजें डाली जा रही हैं। यह सब धोखा है, यह खुद भी जानता हूँ, लेकिन फिर भी आनन्द का कोई अन्त नहीं है।

उस बार धनदादू हमारे आरा रहते समय ही वहाँ आये थे। हम भाई-बहनों का झुण्ड शाम को दादू के साथ टहलने निकलता था। आरा स्टेशन हम लोगों के घर से डेढ़ेक मील था। स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़े होकर शाम के होते-न-होते देखता था कि इम्पीरियल मेल हमारे सामने से दस दिशा कँपाती, सीटी बजाती दौड़ती हुई निकल गयी। इस धाँसू ट्रेन के डिब्बों के बाहर का हिस्सा हल्के पीले रंग का था; और उसके ऊपर सुनहले रंग का नक्शा था। और कोई ट्रेन इतनी खूबसूरत या रौबीली नहीं थी।

एक दिन हम सभी स्टेशन की ओर जा रहे थे। दादू सोला हैट तथा हाथ में छड़ी लिए पूरी तौर पर साहबी पोशाक पहने हुए हमारे आगे-आगे चल रहे थे। ऐसे वक्त जाने कहाँ से एक गाय सींग मोड़े आँखें तरेरकर हम लोगों की ओर दौड़ आयी। ऐसी खूँखार गाय मैंने कभी नहीं देखी। दादू ने तुरन्त कहा, 'तुम लोग खेत में उतर जाओ।'

खेत में उतरने के लिए नागफनी का घेरा भेदकर जाना पड़ेगा, यह खयाल दादू को नहीं था, हमें भी नहीं था। नागफनी की झाड़ियों के बीच से खेत में जा उतरा। हाथ-पाँव में लगे काँटों से कितना जख्मी हुआ, उस हालत में समझ नहीं पाया। हम लोग झाड़ियों के बीच से साँस बन्द करके देख रहे हैं—दादू गाय के सामने दोनों पाँव फैलाकर खड़े हुए हाथ की छड़ी को हवाई जहाज के प्रोपेलर की तरह घुमा रहे हैं, और गाय भी सींग का निशाना बनाये इस विचित्र आदमी के विचित्र कारनामे देख ठिठक गयी है।

और दादू का यह जोश वह पगली गाय मिनट-भर से ज्यादा बर्दाश्त नहीं कर सकी।

दृश्य अभिनय करके दिखाने होंगे। पहले दृश्य में 'सं', दूसरे में 'यम' और तीसरे दृश्य में 'शील' शब्द समझाकर अन्त में पूरी बात अभिनय करके समझानी पड़ेगी। दो तरह का Charade होता है—Dumle Charade और Talking Charade। अगर Dume Charade खेला जाये, तो सिर्फ मूक अभिनय करके बातों को समझाना पड़ेगा। और अगर Talking Charade हो तो अभिनेताओं को एक-आध बार बातचीत में उन चुने हुए शब्दों को घुमा देना पड़ेगा। दर्शकों को चार दृश्य-अभिनय देखकर पूरी बात को निकालना पड़ेगा। बड़ा दल होने पर ही खेल जमता है। शाम कैसे बीत जाती थी, पता ही नहीं चलता था।

एक और याद करने लायक छुट्टी स्टीम लंच में सुन्दरबन के सफर में कटी थी। मेरे एक मौसा एक्साइज कमिश्नर थे। सुन्दरबन में उन्हें बीच-बीच में काम पर जाना पड़ता था। एक बार उन्होंने कई रिश्तेदारों को साथ लिया, उनमें माँ और मैं भी था। मौसा और मौसी के अलावा चार मौसेरी दीदी और रणजित दा थे। रणजित दा या 'रण दा' शिकारी थे; साथ में बन्दूक और अनगिनत टोटा। मातला नदी से हमें एकदम मुहाने तक जाना पड़ेगा, और उसी के बीच सुन्दरबन के नालों में हमारा लांच घूमता रहेगा। सिर्फ पन्द्रह दिन का मामला था।

सफर का अधिकांश समय डेक पर बैठकर दृश्य देखते हुए कटा है। मातला विशाल चौड़ी नदी है, लगभग इस पार से उस पार तक नहीं दिखती। सारेंग लोग बीच-बीच में बाल्टी पानी में उतार देते थे और उसे उठाने पर हम देखते कि पानी के साथ लगभग स्वच्छ जेलिफिश चला आया। नाले में जब लांच घुसता है, तब दृश्य बिलकुल बदल जाता है। दूर से देख रहा हूँ, नाले के उस पार कतार में पड़े घड़ियाल धूप सेंक रहे हैं, किसी की पीठ पर एक बगुला मजे से बैठा है, और पास जाते ही घड़ियाल चट से पानी में उतर जाता है। जिस ओर घड़ियाल हैं, उस ओर जंगल हल्का है। अधिकतर पेड़ नाटे-नाटे-से हैं; और दूसरे किनारे पर विशाल पेड़ों के घने जंगल, उनमें हिरणों का झुण्ड दीख पड़ता है। वे भी लांच की आवाज सुनते ही दौड़ पड़ते हैं।

एक दिन हम लोग लांच से उतरकर और नाव द्वारा किनारे

जाकर गहरे जंगल की ओर बने आदिकालीन काली-मन्दिर को देखने चले। मिट्टी फाड़कर नाग की तरह सिर उठाये हुए हैं खास तरह की जड़ें। लाठी के सहारे उन्हें बचाते हुए आगे बढ़ना पड़ता है। साथ में दो बन्दूकधारी हैं, क्योंकि शेर का अड्डा इसी इलाके में है। कब उससे मुलाकात हो जाये, कोई ठिकाना नहीं।

शेर हम लोगों ने इस सफर में नहीं देखा। मगर शिकारी रण दा ने एक घड़ियाल मारा था। एक जगह नाले के किनारे घड़ियालों का ढेर देखकर लांच को रोका गया। तीन लोगों के साथ नाव लिए रण दा चले गये। लगभग आधा घण्टा साँस रोककर बैठे रहने के बाद बन्दूक की आवाज सुनायी पड़ी। शिकारियों के दल को लांच से काफी दूर जाना पड़ा था।

और भी आधे घण्टे बाद नाव घड़ियाल की लाश लेकर लौटी। लांच के नीचे के डेक में उस घड़ियाल की खाल उतारी गयी। उस खाल से रण दा ने सूटकेस बनाया था।

सात दिनों में हम टाइगर पाइण्ट पहुँच गये। सामने अथाह समुद्र, बायें एक छोटा-सा द्वीप, और उसके ऊपर बालू के पहाड़ पर काफी समय बिताकर हम लोग अपने लांच पर लौट आये। लोकालय से मैं बहुत दूर चला आया हूँ, इसे बताने की जरूरत नहीं पड़ी। खालिस आनन्द की बात मानते हुए पैंतालीस साल पहले के सुन्दरबन के इन चन्द दिनों की यात्रा-स्मृति मेरे मन में आज भी काफी जगह घेरे हुए है।

स्कूल में

बचपन कब खत्म होता है ? दूसरों की बात नहीं जानता, पर मुझे याद है कि जिस दिन मैंने मैट्रिक की परीक्षा के आखिरी परचे के बाद घर आकर टेबुल पर से मैकेनिक्स की किताब उठाकर फेंक दी थी, ठीक उसी क्षण मुझे लगा था, मैं अब और छोटा नहीं हूँ। इसके बाद कालेज में, अब से मैं बड़ा हो गया हूँ।

इसलिए मैं अपने स्कूल की जिन्दगी की बात से ही अपने बचपन की बात खत्म करूँगा।

जब मैं स्कूल में दाखिल हुआ तब मेरी उम्र साढ़े आठ साल थी। ननिहाल में उस समय एक और मामा ने डेरा जमाया। उनका नाम था लेबू। इनकी बात पहले ही कह चुका हूँ। एक दिन सुबह लेबू मामा के साथ बालीगंज गवर्नमेंट हाई स्कूल में हाजिर हुआ। जिस कक्षा में भर्ती होऊँगा—फिफ्थ क्लास (बाद में उसका नाम क्लास सिक्स हुआ था), उस क्लास के मास्टर ने मुझे कई सवाल लिखकर दिये, और चारेक सवाल करने के लिए कहा। मैंने एक दूसरे कमरे में बैठकर उत्तर लिखे और फिर मास्टर के पास जा हाजिर हुआ। मास्टर उस समय अंग्रेजी की क्लास ले रहे थे। मेरे उत्तरों की ओर देखकर उन्होंने सिर हिलाया, यानी उत्तर में कोई गलती नहीं है। और इसका मतलब स्कूल में मैं दाखिल कर लिया गया।

लकड़ी के प्लेटफार्म पर खड़े होकर मास्टर के हाथ से कापी वापस ले रहा हूँ, ऐसे ही वक्त क्लास के एक लड़के ने (बाद में पता चला कि

उसका नाम राणा है) मुझसे पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है भाई ?' मैंने अपना नाम बताया। 'और पुकारनेवाला नाम ?' छिपे रुस्तम राणा दास ने पूछा। मेरी कोई धारणा ही नहीं थी कि आसानी से अपना पुकारनेवाला नाम स्कूल में नहीं बताना चाहिए। मैंने इसीलिए सरलता से अपना पुकारनेवाला नाम बता दिया।

उसके बाद मेरे क्लास या स्कूल के किसी भी लड़के ने मुझे पोशाकी नाम से नहीं पुकारा। वह नाम सिर्फ मास्टर लोग इस्तेमाल करते थे।

बालीगंज गवर्नमेंट हाईस्कूल—लैंसडाउन रोड पार करके बेलतला रोड पुलिस थाने के पूरबी किनारे से सटा हुआ है। स्कूल के पूरब में जो रास्ता है, उसके ऊपर डेविड हेमर ट्रेनिंग कालेज। साल में एक बार वहाँ से बी० टी० के छात्र आकर हमारी क्लास लेते थे।

ऊँची दीवार से घिरा हुआ स्कूल के दक्षिणी हिस्से में खेल का मैदान था। आसमान से देखने पर स्कूल का मकान अंग्रेजी के टी अक्षर की तरह दिखेगा। नीचेवाला झूला हुआ-सा हिस्सा स्कूल का हॉल था और सिर का लम्बा हिस्सा क्लास-रूमों की कतार। गेट से घुसकर दाहिनी ओर दरबान का घर, बायीं ओर थोड़ा जाते ही एक पीपल का पेड़। उसके तने को घेरकर सीमेंट की बनी हुई वेदी। पेड़ के नीचे काफी घेरे में घास नहीं है, क्योंकि टिफिन के वक्त लड़के वहाँ गोली खेलते हैं। खेलों में बड़े मैदान में फुटबाल, क्रिकेट, हॉकी सभी होते हैं। और साल में एक दिन खेलकूद-समारोह होता है। इसके अलवा गोली, डण्डागुल्ली, कबड्डी, लट्टू का खेल तो है ही।

दरबान का कमरा पार करके गिट्टी बिछे हुए रास्ते से थोड़ी दूर तीन सीढ़ियाँ चढ़कर पूरब-पश्चिम तक फैला हुआ स्कूल का बरामदा। बरामदे की दाहिनी ओर कतारबन्द क्लास रूम और बायें आधा रास्ता पारकर हॉल का दरवाजा। गैलरीदार हॉल में सबसे बड़ी घटना जो घटती है वह है वार्षिक पुरस्कार-वितरण। इसके अलावा सरस्वती पूजा के वक्त पत्तल बिछाकर खाना खाया जाता है, बीच-बीच में भाषण होते हैं, और एक बार याद है—ग्रीनबर्ग और सेलिम नाम के दो

विदेशी अभिनेताओं ने आकर शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' के कई दृश्यों का अभिनय किया था। हम सभी लोग फोल्डिंग कुर्सी पर बैठकर जिन्दगी में पहली बार शेक्सपियर देख रहे थे, और हमारे पास ही खड़े अंग्रेजी के मास्टर ब्रजेन बाबू आँखें बड़ी करके मंच की ओर देखते हुए अभिनेताओं के साथ-साथ ओठ हिलाते जा रहे हैं—शायद जाँच रहे थे कि छात्रजीवन में पढ़े हुए नाटक का कितना कुछ याद है। एक बार, शायद सरस्वती पूजा के दिन ही हम लोगों को हॉल में चार्ली चैप्लिन की फिल्म दिखायी गयी। शो जो होगा, उसका नोटिस दरबान ने पहलेवाले दिन आकर हमारी क्लास में अहमद सर के हाथ में दे दिया। अहमद सर ने पढ़ा, 'थ्रू द काइण्ड कर्टसी ऑफ मेसर्स कोदक कम्पनी···' आदि। कोडैक कम्पनी का नाम सर को पता नहीं था। सोचा, नाम देशी है, मोदक का मौसेरा ही होगा और क्या !

बरामदे के अन्तिम सिरे तक पहुँचकर सीढ़ी से उतरते ही दिखायी पड़ते हैं छावनी के नीचे अगल-बगल, पीने के पानी के दो बड़े-से टैंक। गर्दन नीची करके नल खोलकर और चुल्लू भरकर पानी पीना पड़ता है। दोनों टैंकों के ऊपर पश्चिमी दीवार से सटी कारपेण्टरी की क्लास, वहाँ तरफदार साहब का दबदबा है। हथौड़ा, बसुली, रन्दा, आरी, प्लेटवर्क मशीन—किसी चीज की वहाँ कमी नहीं, और हर वक्त ही क्लास के भीतर से तरह-तरह की यान्त्रिक आवाजें सुनायी पड़ती हैं।

दो मंजिले की सीढ़ी से ऊपर जाने पर सामने ही बरामदे में रेलिंग के ऊपर स्कूल का घण्टा झूल रहा है। दरबान के अलावा इस घण्टे को कोई बजाये, यह काम किसी के बूते का नहीं। रस्सी पकड़कर घण्टे पर काठी मारने से वह घूम जाता— एक से अधिक 'टंग' उससे नहीं निकलता था। दरबान इसे किस तरह मैनेज करता था, यह हम सभी के लिए एक रहस्य बना हुआ है।

सीढ़ी चढ़कर बायें मुड़ने पर दफ्तर पार करके हेड मास्टर महोदय का कमरा। दफ्तर में एक अलमारी भरी हुई किताबें। यही है स्कूल की लाइब्रेरी। किताबों में तीन—सिन्दबाद, हातिमताई और दागोबर्ट —इतनी जनप्रिय थीं कि हाथों-हाथ घूमते हुए उनकी हालत खस्ता

थी। तीनों एक ही सीरीज की किताबें थीं। सिन्दबाद को तो सभी जानते हैं, और हातिमताई की बात अब भी बीच-बीच में सुनायी पड़ जाती है, मगर दागोबर्ट का नाम स्कूल छोड़ने के बाद कहीं और सुना है, ऐसा याद नहीं पड़ता।

स्कूल में दफ्तरी का काम भी आफिस के इसी कमरे में होता था। यह अभी तक याद है कि गोल डण्डे की तरह रोलर लुढ़का-लुढ़काकर लाल-नीली स्याही से समान्तर लकीर खींचना देखने में बहुत विचित्र लगता था।

सीढ़ी से ऊपर जाकर दाहिनी ओर पहले मास्टर लोगों का कामन रूम दिखायी पड़ेगा, उसके बाद कतारबन्द क्लासरूम। पहली मंजिल और दूसरी मंजिल—कुल मिलाकर आठ दर्जे—थ्री से लेकर टेन। हरेक क्लास में दो कतारों के लिए सोलह-सोलह डेस्क, किसी भी क्लास में बत्तीस से अधिक छात्र नहीं हैं। दस बजे स्कूल शुरू होता है, एक बजे एक घण्टे की टिफिन की छुट्टी, उसके बाद चार बजे तक क्लास। गरमी की छुट्टियों के बाद महीने-भर मार्निंग स्कूल। सुबह सात बजे क्लास शुरू होती है। उस समय उत्तरायण की धूप खिड़की से क्लास में घुसकर क्लास का चेहरा बिलकुल बदल देती है। मास्टर लोग भी सुबह-सुबह जाने क्यों कम डरावने लगते हैं। सिर के ऊपर सूरज चढ़ते ही शायद लोगों का मिजाज और गर्म हो जाता है। मार्निंग स्कूल इसीलिए बहुत अधिक 'स्निग्ध' लगता था।

हालाँकि यदि इससे यह लगे कि मास्टर महोदयों में से अधिकांश का ही मिजाज गर्म था, तो यह ठीक नहीं होगा। ठीक यही है कि कुछ चुने हुए दुष्ट लड़कों पर बीच-बीच में मास्टर महोदयों का गुस्सा फट पड़ता था। मास्टरों के मिजाज तथा लड़कों के अपराध के मुताबिक सजाओं में हेरफेर होता था। मुक्का, थप्पड़, कनेठी, गलमुच्छा पकड़-कर एक पाँव पर खड़े रहना—यह सब हम लोगों ने देखा है। मगर खुद मुझे कभी यह सब भुगतना पड़ा हो, यह याद नहीं आता। अच्छे, शान्त और शिष्ट (कोई-कोई जोड़ देता था 'लैजविशिष्ट' यानी पूँछ-वाले) लड़के के रूप में शुरू से ही मेरी एक पहचान बन गयी थी।

छह साल की स्कूली जिन्दगी में मुझे दो हेडमास्टर मिले थे। पहले जब दाखिल हुआ तब नगेन मजुमदार थे। तुम लोगों को 'सन्देश' में ननीगोपाल मजुमदार की कहानी बीच-बीच में मिलती है; नगेन बाबू ननीगोपाल के पिताजी थे। वे हेडमास्टर हैं, यह क[illegible] की जरूरत नहीं पड़ती थी। कम-से-कम मेरी कल्पना के हेडमास्टर के साथ उनके चेहरे का मेल सोलह आने था। मँझोला कद, गोरा रंग, लटकती हुई सफेद मूँछें, सफेद बाल, गुलबन्द कोट और पैण्ट। मिजाज सिर्फ गम्भीर ही नहीं, स्कूल में किसी ने उनके चेहरे पर कभी हँसी देखी हो, इसमें शक है। साल के अन्त में, वार्षिक परीक्षा के बाद एक खास दिन वे हरेक क्लास में जाते थे तथा लिस्ट देखकर परीक्षा में पहले, दूसरे और तीसरे स्थान पर आनेवाले विद्यार्थी का नाम पढ़कर सुनाते थे। क्लास के बाहर 'नगा' के जूते की आवाज सुनते ही दिल में जो हंगामा शुरू होता था, वह कभी नहीं भूलूँगा।

नगेन बाबू के बाद योगेश बाबू आये—योगेशचन्द्र दत्त। इनका चेहरा नगेन बाबू से कुछ दुबला और मूँछ भी ओठ के नीचे बहुत कम जगह घेरे हुए; मगर यह भी आग-मार्क हेडमास्टर थे। इनकी पैण्ट कुछ ढीली-ढाली-सी थी। उस समय हमने क्लास में रिप वैन विंकल की कहानी पढ़ी है; उसमें एक प्रकार की पैण्ट की चर्चा है, जिसका नाम गैलीगैसकिन्स है। तीन-चार सौ साल पहले अमेरिका में यह पैण्ट चालू थी। भारी-भरकम नामवाली यह पैण्ट देखने में दरअसल कैसी थी, हम लोगों में से किसी को भी पता नहीं था, मगर हमने मान लिया कि वह योगेश बाबू की ढीली पैण्ट की तरह ही होगी। इसलिए योगेश बाबू की पैण्ट तभी से हमारे लिए गैलीगैसकिन्स हो गयी।

इन योगेश बाबू का नाम 'गांजा' क्यों पड़ा, वह कारण अब याद नहीं है। शायद योगेश से 'यगा', से 'गजा', से 'गांजा'। इनके बारे में हमारा डर उस समय काफी छँट गया, जब उन्होंने हमारी एक क्लास ली। कोई एक मास्टर महोदय अनुपस्थित थे, इसीलिए यह इन्तजाम हुआ। ताज्जुब की बात है कि उस दिन की क्लास में जितनी खुशी मिली थी, जितनी नयी चीजें सीखी थीं, वैसा फिर कभी नहीं हुआ।

'गंजी शब्द कहाँ से आया है, कौन बता सकता है ?' यही था योगेश बाबू का पहला सवाल। हम लोगों में से कोई बता नहीं पाया। योगेश बाबू ने कहा, 'शब्द असल में अंग्रेजी है—Guernsey, इंगलिश चैनल के फ्रांस के उपकुल के पास एक छोटे-से द्वीप का नाम है—Guernsey। वहीं से इस कमीज का यह नाम पड़ा, जो वहाँ के खलासी लोग पहनते थे।

योगेश बाबू ने और यह बताया कि बंगाली लोग एक जमाने में एक प्रकार का ओवरकोट पहनते थे, जिसे अलेस्टार कहते थे। इस कोट का असल नाम सुना है, और यह नाम भी एक जगह के नाम से आया है। आयरलैण्ड के आलस्टर नामक एक शहर में यह कोट पहली बार चालू हुआ।

इसके बाद योगेश बाबू ने जो कुछ किया, उससे हम हक्का-बक्का रह गये। ब्लैकबोर्ड पर बंगला में उन्होंने लिखा :

एक दो तीन चार पाँच छह सात आठ नौ

और उसके बाद हरेक शब्द का थोड़ा-सा हिस्सा पोंछ दिया, जिससे उनका यह रूप बन गया :

1 2 3 4 5 6 7 8 9

इस घटना के बाद से 'गांजा' साहब हमारे करीब के आदमी बन गये।

हेडमास्टर महोदय के बाद हम जिन्हें सबसे अधिक इज्जत की निगाह से देखते थे, वे हैं असिस्टैण्ट हेडमास्टर ज्योतिर्मय लाहिड़ी। उन्हें हम लाहिड़ी सर या ज्योतिर्मय बाबू न कहकर हमेशा ही मिस्टर लाहिड़ी कहते थे, क्योंकि मास्टर लोगों में से इनके जैसा साहब कोई और नहीं था। लम्बा सुपुरुष चेहरा, बदन का रंग गोरा-चिट्टा, दाढ़ी-मूँछ बनी हुई, सूट और टाई पहने हुए। सूट का कोट जरा नाटा-सा, इसके अलावा कोई और खामी पकड़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। हॉल में कोई अनुष्ठान होने पर दोनों हाथ पेट पर टिकाये खड़े रहते थे। ताली बजाने की जरूरत में भी दोनों हाथ कभी नहीं उठते थे—एक हाथ पेट पर ही रहता था, और दूसरा उसकी पीठ पर हल्के-हल्के

चोट करता था।

मिस्टर लाहिड़ी का उच्चारण साहबों की तरह था। स्काट के आइवन को पढ़ाते हुए स्काट के फ्रांसीसी नामों का उच्चारण सुनकर उन पर भक्ति कई गुना बढ़ गयी। Front-de-Boeuf का उच्चारण फ्रंद्ब्यो हो सकता है, यह किसे पता था ?

योगेश बाबू के बाद वे ही हेडमास्टर बने थे, मगर तब तक मेरी स्कूली जिन्दगी ही समाप्त हो गयी।

दूसरे मास्टर महोदयों में एक-से-एक टाइप के थे। यह अंग्रेजों का जमाना था। सरकारी स्कूल के नियमानुसार हिन्दू मास्टरों के साथ कुछ मुसलमान और कुछ बंगाली क्रिश्चियनों का रहना स्वाभाविक था। मुसलमानों में अहमद सर थे, जसीमुद्दीन अहमद, जिन्होंने 'कोडैक' को 'कोदक' कहा था। दो और जो हमें पढ़ा गये हैं, उनमें से एक हैं कवि गुलाम मुस्तफा। इन्होंने साल-भर हमें बंगला पढ़ायी। उनकी एक कविता हमारे पाठ में थी, जिसकी पहली दो पंक्तियाँ यों हैं :

'अनमने अकेले गली में चलते-चलते
देखी छोटी-सी लड़की छोटी गली में।'

मुस्तफा साहब पूर्वी बंगाल के आदमी ठहरे, 'न' और 'छ' को अंग्रेजी के 'एस' की तरह उच्चारण करते हैं। उन्होंने बहुत ही मार्मिकता के साथ कविता पढ़ी, पर उनका उच्चारण सुनकर चंट लड़कों ने समझ लिया कि उनके साथ ज़रा मजाक किया जा सकता है। गोपाल ने आग्रह के साथ पूछा, 'अच्छा, यह जो सोटी-सी गली में सलते-सलते सोटी-सी लड़की की बात लिखी है, यह क्या सच्ची घटना है ?'

मुस्तफा साहब सीधे-सादे आदमी; कहा, 'हाँ, सच है। वाकई एक दिन मैंने गली से जाते-जाते देखा, एक सोटी-सी लड़की खड़ी है। मैंने उसकी बगल में जाते हुए उसके सिर पर टुक से एक चाँटा लगा दिया।'

'चाँटा लगा दिया सर ? वाह !'

बात ज्यादा आगे नहीं बढ़ी, क्योंकि पीछे से 'अबे गोपाल, बैठ' दबी हुई आवाज उठने लगी।

मास्टर महोदयों में से दो क्रिश्चियन थे—बी० डी० सर और मनोज बाबू। बी० डी० सर यानी बी० डी० राय। पूरा नाम शायद बिभुदान या बिधुदान। ऐसा नाम इससे पहले या बाद में कभी नहीं सुना। वे अंग्रेजी पढ़ाते थे। छोटे कद के आदमी, अंग्रेजी का उच्चारण ठीक हो, इस ओर उनका खास ध्यान था। ईशप की कहानी The ox and the frog पढ़ाने से पहले बता दिया, 'वावेल से पहले के The का उच्चारण होगा 'दी', और कन्सोनेण्ट से पहले 'द्य'। दी अक्स एण्ड द्य फ्रग। और अंग्रेजी के द का उच्चारण बंगला द की तरह नहीं। बंगला द कहते वक्त जीभ और तालू के बीच कोई फाँक नहीं रहती, मगर अंग्रेजी में कहते वक्त ज़रा-सी रहेगी, ताकि थोड़ी हवा निकल जाये। असल में अंग्रेजी द का उच्चारण द और Z के बीचोबीच आता है।'

मनोज बाबू के एक भाई पुलिस में काम करते थे। उनका निवास हमारे स्कूल से सटे हुए थाने में था। इस पुलिसवाले भाई के दो लड़के सुकुमार और शिशिर हमारी क्लास में पढ़ते थे। ये लोग दीवार फाँदकर स्कूल में आते थे। सुकुमार हमारी क्लास का सर्वश्रेष्ठ धावक था, लगातार दो बार उसने हंड्रेड याड्र्स जीता। शिशिर शातिर था, किताब से उसका कोई ताल्लुक नहीं था, घूँसा-थप्पड़-कनेठी उसकी रोज-रोज की पावती थी, खास कर अपने चाचा से। कहा जा सकता है कि पढ़ाते वक्त मनोज बाबू कुर्सी पर लगभग बैठते ही नहीं हैं, टेबुल से टिककर जमीन पर खड़े हुए हाथ में किताब लेकर क्लास लेते थे। एक विचित्र मुद्रादोष—बीच-बीच में दाहिनी काँख को झकझोर उठते थे और इससे उनकी गर्दन दाहिनी ओर हिल जाती थी, गोया मक्खी भगा रहे हों। स्वभाव से बहुत ही अनमने थे। कब कौन-सी बात सोच रहे हैं, यह एक रहस्य रहता था। उसके ऊपर से 'वेरी गुड' ! ओंठ पर लगा ही हुआ है। 'ज़रा बाहर जाऊँ सर ?' 'वेरी गुड !' हम लोग चुप। बाहर जाने में वेरी गुड क्या है ? दूसरे ही क्षण अपनी गलती महसूस कर दाँत-से-दाँत पीसकर कहते, 'अभी तो तू गया था, फिर क्यों ?'

हेड पण्डित महोदय, भट्टाचार्य सर की सबसे अधिक याद उनके

हाथ की लिखावट के लिए आती है। ऐसा नहीं लगता कि ब्लैकबोर्ड पर इतनी खूबसूरत बंगला कोई और लिख सकता है।

सेकेण्ड पण्डित महोदय को सब लोग भैन पण्डित क्यों कहते थे, उसका कारण कभी नहीं जान सका। मेरे आने से पहले ही उनका यह नामकरण हो चुका था। याद नहीं कि उन्हें कभी हँसते हुए देखा हो। मगर बदमिजाज होने के बावजूद छात्रों को सँभालने में उतने दुरुस्त नहीं थे। इनकी एक फटकार अब भी मेरे कानों से चिपकी हुई है—'चिल्ला-चिल्लाकर मेरे गले से खून की गंगा बह गयी, फिर भी तुम लोग ध्यान नहीं दे रहे हो ?'

इनका हाथ बहुत उठता हो, ऐसी बात नहीं, मगर एक बार अजय को कान के पास थप्पड़ मारकर बेहोश कर दिया था। उस दिन सारा स्कूल गरमा उठा था। घटना टिफिन से पहले हुई थी। टिफिन की घण्टी बज गयी, मगर कोई भी क्लास से नहीं निकला। अजय लाल मुँह लिये हाथ से कान ढँककर सिर झुकाये बैठा था। लड़के उसे घेरे हुए हैं, पण्डितजी को भी एक तरह से क्लास में बन्दी बनाकर रखा गया है। क्लासरूम के बाहर से बन्द दरवाजे की झिलमिली हटाकर दूसरे क्लास के लड़के 'भैन ! भैन !' कहकर व्यंग्य कर रहे हैं।

पिटाई के अलावा एक और तरह का हथियार भी कुछ मास्टर महोदय इस्तेमाल करते थे, जो प्रहार से भी बढ़कर था। वह है वाक्य-बाण। रमणी बाबू इस मामले में अद्वितीय थे। उनका दाँत-मुँह बिरानेवाला चेहरा व्यंग्य-विद्रूप के लिए हमेशा तैयार रहता था। संजय नाम का एक नया लड़का दाखिल हुआ—उस समय हम शायद आठवें दर्जे में थे। पता चला, ठाकुरबाड़ी के साथ उसका कुछ सम्पर्क है। लड़के मजाक करने का ऐसा मौका क्यों छोड़ेंगे ? मेरी बारी में भी नहीं छोड़ा था। मैं जो सुकुमार राय का लड़का और उपेन्द्रकुमार का नाती हूँ, यह शुरू में ही लोग जान गये थे। उसके बाद धीरे-धीरे निकल आया एच० एम० वी० की आर्टिस्ट कनक दास मेरी मौसी हैं और बंगाल के सर्वश्रेष्ठ क्रिकेटर कार्तिक बोस मेरे चाचा हैं। इसके कई दिन बाद मुझे सुनना पड़ा, 'क्यों रे माणिक, अमल कह रहा था,

जार्ज पंचम सुना तेरे दादा लगते हैं; सच है क्या ?' उसी तरह—'रवि बाबू तेरे कौन लगते हैं ? ताऊ जी ?' यह सवाल संजय को बहुत बार सुनना पड़ा। खामियों में संजय का रंग न केवल गोरा, बल्कि उसके साथ काफी कुछ गुलाबीपन लिए हुए था। जिसे कहते हैं दूध में आलता। इसके अलावा ठाकुरबाड़ी वाली मेधा का हिस्सा भी उसके हिस्से ज्यादा नहीं पड़ा, यह कुछ दिनों बाद ही पता चला। रमणी बाबू ने उसका अन्दाज लगाकर उसकी ओर वाक्यबाण छोड़ा—'अरे माकालफल, माकाल ठाकुर, तुम्हारे दोनों कानों को थोड़ा और लाल कर दूँ क्या ? ज़रा पास आओ ?'

रमणी बाबू की दिल दहलानेवाली ये बातें सहने की ताकत हम में से किसी में भी नहीं थी। मगर कुछ मास्टर महोदय ऐसे भी थे जिनका गुस्सा कहीं ज्यादा दूर न जाये, इसका इन्तजाम करना छात्रों के लिए असम्भव नहीं था। ब्रजेन बाबू हमारे प्रिय मास्टर महोदयों में से एक थे। कड़ी बातें उनकी जुबान से बहुत अधिक सुनायी नहीं पड़ीं। छात्रों के ज्यादा हल्ला मचाने पर वे बहुत ही व्यस्त होकर कहते थे—Cease talking cease ! इससे हर वक्त काम बनता हो, ऐसी बात नहीं थी। एक बार ऐसी ही हालत में बर्दाश्त से बाहर होने पर ब्रजेन बाबू ने एक छात्र की ओर देखकर हाँक लगायी, 'आ, तू उठकर यहाँ आ !'

सजा क्या मिलेगी पता नहीं; शायद क्लास रूम के कोने में खड़ा रहने के लिए कहा जायेगा। छात्र के आगे बढ़ते ही अचानक एक और छात्र आलोक अपनी जगह से उठकर ब्रजेन बाबू से लिपट गया—

'सर, आज के दिन उसे माफ कर दीजिए सर !'

ब्रजेन बाबू का गुस्सा तब तक ठण्डा नहीं हुआ था, पर इस अप्रत्याशित बाधा से ठिठककर उन्होंने कहा, 'क्यों, आज के दिन क्यों ?'

'आज मर्चेण्ट ने सेंचुरी किया है सर !'

इन ब्रजेन बाबू को ही एक दिन एक विख्यात कत्ल के मामले में जूरी बनने का बुलावा आया। इस बुलावे पर 'हाँ' किए बगैर कोई

चारा नहीं था। ब्रजेन बाबू को इसीलिए बीच-बीच में स्कूल न आकर अदालत में हाजिर होना पड़ता था। पाकुड़ हत्या के मुकदमे को लेकर कलकत्ता उस वक्त गर्म था। जमींदारी कत्ल का मामला, हर हफ्ते उस पर कितनी-कितनी किताबें निकल रही हैं। सड़क-मोड़ों पर वे तमाम बिकती हैं, लोग उन पर टूट पड़ते हैं और खरीदकर चाट जाते हैं। ब्रजेन बाबू को हम कोर्ट में हाजिरी देकर स्कूल आते ही घेर लेते थे—'सर, मुकदमे में क्या हुआ, बताइए सर!' पढ़ाई-लिखाई छींके पर टँगी रह गयी, क्योंकि ब्रजेन बाबू मानो स्वयं कहानी सुनाने को उत्सुक थे। पूरे एक घण्टे तक हमने रोंगटे खड़े कर देनेवाली वह कहानी सुनी, कि कैसे हावड़ा स्टेशन की भीड़ में उस व्यक्ति के शरीर में सुई से विष उतारा गया।

बालीगंज गवर्नमेंट स्कूल में उन दिनों छात्रों की कोई यूनिफार्म नहीं थी। हम लोगों में से कुछ हाफपैण्ट पहनते थे, कुछ धोती। मुसलमान लड़कों को पाजामा पहनकर आते देखा है, यह भी याद है। धोती के साथ शर्ट पहनने का रिवाज था, और छात्र थोड़ा लायक हुआ तो शर्ट के पीछे का कालर उलट देता था। स्पोर्ट्समैन हुआ तो कहना ही क्या? ऊँची कक्षा के केश्टो दा, यतीश दा, हिमांशु दा—ये सभी खिलाड़ी थे, इसलिए सभी कालर उठाते थे। इनमें से केश्टो दा की तो मैट्रिक क्लास में ही बाकायदा दाढ़ी-मूँछ निकल आयी थी। देखने से लगता था, उम्र कम-से-कम उन्नीस-बीस तो होगी ही। हम लोग महज चार दर्जा नीचे पढ़कर भी निहायत ही बच्चे थे, मूँछ-दाढ़ी का तो कोई लक्षण ही नहीं—सुदूर भविष्य में आयेंगी, ऐसी उम्मीद भी नज़र नहीं आती थी।

कालर उठानेवालों के जो राजा थे, वे छात्र नहीं, शिक्षक थे। ड्रिल-सर सनत बाबू। वे जब आये तो स्कूल में मुझे तीन साल हो गये थे। आँखें स्वप्निल, कुछ-कुछ बायस्कोप के हीरो जैसा चेहरा, और शर्ट का कालर इतना फैला हुआ कि कन्धे तक पहुँच जाता था। इस पर उठा लेने के बाद वह ऐसा लगता था मानो ड्रिल-सर उड़ने की तैयारी कर रहे हों। अभी जिसे पी० टी० कहा जाता है, वही उन

दिनों ड्रिल थी। हफ्ते में दो या तीन दिन, एक-घण्टा स्कूल के मैदान में बिताना पड़ता था। ड्रिल-सर का उस समय मिलेटरी मिजाज होता था। तरह-तरह की कवायद के बीच हाईजम्प की भी व्यवस्था थी। धरती से दो हाथ ऊपर टँगे हुए बाँस को लाँघना पड़ेगा। जो हिचकिचायेगा, उसके प्रति ड्रिल-सर हुँकार छोड़ेंगे—'आई से जाऽम्प!' उन्होंने Jump शब्द को जाम्प और झाम्प के बीचोबीच रखा है, ताकि हुक्म जोरदार हो। जाम्प का यह हुक्म मुझे भी सुनना पड़ा, क्योंकि बचपन में डेंगू नामक एक बीमारी से मेरा दाहिना पैर कमजोर हो गया था, जिसके फलस्वरूप उछलकूद में मैं कभी कुशल नहीं हो सका।

जो काम बचपन से ही अच्छी तरह कर पाता था वह था तस्वीर बनाना। इसीलिए स्कूल में दाखिल होने के थोड़े दिनों बाद ही मैं ड्राइंग मास्टर आशु बाबू का प्रियपात्र बन गया था। 'सइत्यजित नाम में भी सइत्यजित और काम में भी सइत्यजित'—आशु बाबू को ऐसा कहते हुए बहुत बार सुना है, हालाँकि काम में भी उन्होंने सत्यजित से क्या समझाना चाहा, यह समझ नहीं पाया। दुबला-पतला आदमी, तीखी नाक, पतली मूँछ, हाथों की उँगलियाँ पतली और लम्बी, खालवाट सिर के पीछे की ओर तेल-सने बाल। गवर्नमेंट आर्ट स्कूल से अंकन सीखा है, मगर अंग्रेजी एकदन नहीं सीखी। सभी छात्र यह बात जानते थे, और जानते थे इसीलिए क्लास में नोटिस आते ही एकसाथ चिल्ला उठते थे—'सर, नोटिस!' आशु बाबू दरबान को क्लास में घुसते देखते ही किसी काम में डूब जाते और कहते, 'दिलीप, नोटिस ज़रा पढ़ देना बेटा!' दिलीप क्लास का मानीटर था। नोटिस पढ़कर वह आशु बाबू की समस्या सुलझा देता। एक दिन मेरे एक चित्र पर आशु बाबू ने नम्बर दिया 10+F। सबने कापी पर झुककर देखा और कहा, 'प्लस एफ क्यों सर?' आशु बाबू ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'एफ है फर्स्ट!'

सालाना पुरस्कार-वितरण से कुछ दिन पहले से आशु बाबू की व्यस्तता बढ़ जाती थी। हॉल सजाने का उत्तरदायित्व उन पर था। लड़कों के बनाये हुए चित्रों की प्रदर्शनी होगी, इसका भी उत्तरदायित्व

उन्हीं पर होता। पुरस्कार से पहलेवाले विविध अनुष्ठान में एक खास आइटम था, उसमें भी आशु बाबू की देन रहती। आइटम को कहा जाता है म्यूजिक ड्राइंग। यह शायद स्कूल के शुरू से ही प्रचलित था। स्टेज के ऊपर ब्लैकबोर्ड और रंगीन चाक रखा रहेगा। एक छात्र एक गाना गायेगा, और एक छात्र उस गाने के साथ कहानी मिलाकर ब्लैक-बोर्ड पर तस्वीर बनायेगा। मेरे रहते हुए हर बार एक ही गाना गाया गया—रवीन्द्रनाथ का 'अमल धवल पाल पर लगी है मन्द मधुर हवा, देखा नहीं कभी ऐसा नाव खेना।' अन्तिम दो साल छोड़कर हर बार एक ही आर्टिस्ट—हम लोगों से तीन-चार दर्जा ऊपर पढ़नेवाले हरिपद दा ने तस्वीर बनायी। यह कहना ही पड़ेगा कि हाथ और नाव दोनों चीजों पर हरिपद दा का आश्चर्यजनक कब्जा था। भरे हुए हॉल में लोगों के सामने बिना नर्वस हुए सीधे ब्लैकबोर्ड पर तस्वीर बनाना छोटी-सी बात नहीं है, मगर हरिपद दा हर बार ही उस परीक्षा में अच्छी तरह पास होते थे। 1933 में वे मैट्रिक पास करके निकल गये। अब उनकी जगह कौन ले? आशु बाबू चाहते थे कि मैं लूँ, मगर मैं कतई तैयार नहीं हुआ। इसका सहज कारण है, मेरी जैसी स्टेजभीति आम तौर पर दिखायी नहीं पड़ती। किसी विषय में पुरस्कार मिल रहा है, सुनते ही मुझे बुखार आता है, क्योंकि इतने लोगों के बीच मेरा नाम पुकारा जायेगा, मैं अपनी जगह से उठकर किसी नामी-गिरामी व्यक्ति के हाथ से पुरस्कार लूँगा, उसके बाद फिर चलकर अपनी जगह लौट आऊँगा—यह मेरे लिए एक आतंकवाली बात है। लिहाजा म्यूजिक ड्राइंग का दायित्व अन्त तक सुरंजन पर पड़ा। चित्र एक ही—नदी में सफेद पाल उड़ाती हुई नावें, आसमान पर सफेद बादलों का हजूम, बादलों के बीच से सूरज उस पार पेड़ों के पीछे डूब रहा है। मगर हरिपद दा जैसी सफाई और हाथ का जोर उसमें नहीं था।

अनुष्ठान की सूची में मेरे रहते अन्तिम तीन साल में दो चीजें कभी नहीं छूटीं। एक, मास्टर फुलु का तबला; और दूसरी, जयन्त का मैजिक। फुलु हम लोगों से तीन दर्जा नीचे पढ़ता था। 7 साल की उम्र से तबला बजाता था। बाद में थोड़ा बड़ा होकर महफिल वगैरह

में भी बजाया। जयन्त मुझसे दो दर्जा ऊपर पढ़ता था, लगातार दो बार फेल होकर हमारी कक्षा में आ गया। परीक्षा में वह पास नहीं होगा यह मैं तभी समझ गया था जब वह हमारे साथ बैठकर परीक्षा दे रहा था। हमने गौर किया कि वह कापी की ओर न देखकर बार-बार अपनी गोद की ओर देख रहा है। गोद में कोई किताब खुली हुई है क्या? जो मास्टर महोदय पहरा दे रहे थे, मामला देख वे भी हड़बड़ाकर जयन्त की ओर गये—'नीचे क्या देख रहे हो?' जयन्त ने हाथ उठाकर दिखा दिया, उसमें मर्तमान केला हैं—'टिफिन में खाऊँगा सर! इसलिए देख रहा था, ठीक है या नहीं।'

जयन्त दस-ग्यारह साल की उम्र से मैजिक का अभ्यास कर रहा है। स्टेज के मैजिक के अलावा उसे और भी जादू आता है। क्लास में आने के कुछ ही दिनों बाद हमने देखा कि कक्षा में बैठे-बैठे परिमल अचानक बेहोश हो गया। क्या मामला है?···ना, जयन्त कई मिनट तक परिमल के गले की दोनों ओर की दो नसों को दाबकर बैठा रहा। उसी से यह कारनामा हुआ है। जयन्त ने समझा दिया कि उन दो नसों को Carotid artesies कहते हैं। उनको दबाये रखने पर मस्तिष्क में खून चलना धीमा हो जाता है और आदमी बेहोश। किन्तु नस छोड़ देने के कुछ सेकेण्ड बाद ही खून का चलना फिर शुरू हो जाता है, और होश लौट आता है।

हाथ की सफाई के मैजिक में जयन्त कुशल था। मगर वह जो और अधिक आगे बढ़ रहा है, यह हमें हमारी कक्षा के एक छात्र असित के जन्मदिन के न्योते पर पता चला। असित ने जयन्त को मैजिक दिखाने के लिए बुलाया था। तय था कि खाने के बाद ही मैजिक होगा, पर खाने के बीच शीशे के गिलास से पानी पीकर जयन्त ने अचानक गिलास को ही चबाना शुरू कर दिया। शीशा खाना, काँटिया खाना—यह सब उसने स्कूल में रहते ही सीखा था। स्कूल छोड़ने के दो-एक साल बाद सुना कि मैजिक दिखाते समय एसिड पीकर जयन्त मर गया।

हमारी कक्षा के लड़कों में से अनिल के बारे में थोड़ा अलग से बताना चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ खासियत थी। अनिल जब बहुत

कम उम्र का था, तब एक गम्भीर बीमारी के इलाज के लिए काफी दिनों तक स्विट्जरलैण्ड में था। बीमारी से मुक्त होकर वह 1933 में हमारी कक्षा में भर्ती हुआ। मैं उस समय आठवें दर्जे में पढ़ता था। जिस तरह ठाकुरबाड़ी के साथ संजय का रिश्ता था, अनिल के पुरखों में भी एक विख्यात बंगाली थे। एक बार बी० टी० का एक छात्र हमारी कक्षा ले रहा था। रोमन इतिहास पढ़ाते समय एट्रुरिया के राजा लार्ड पोरसिवा के नाम का उल्लेख करते हुए खुराफाती फारुख ने कहा, 'क्या कहा सर, लार्ड सिन्हा?' पीछे ही बैठा था अनिल। उसने फारुख के सिर पर एक गट्टा जमाया, क्योंकि और कुछ नहीं, यह लार्ड सत्येन्द्र प्रसन्नसिंह अनिल के दादा थे। अनिल खुद बहुत चतुर छात्र था। बहुत दिनों तक विदेश में रहने के कारण बंगला में कमजोर, मगर अंग्रेजी और गणित में उस कमी को पूरा कर लेता था। पिता का एकमात्र पुत्र और अच्छी हालतवाले घर का लड़का होने के नाते अनिल की किस्मत में कुछ ऐसी चीजें थीं जिनकी हम कल्पना ही नहीं कर सकते थे। नेसले कम्पनी ने उस समय एक आने के चाकलेट के पैकेट में एक तरह की तस्वीरें देना शुरू किया है। तस्वीरें एक सीरीज की हैं, नाम वण्डर्स ऑफ द वर्ल्ड। नेसले ने ही एलबम निकाला था, उसी एलबम में तस्वीरों को साँटकर रखना पड़ता था। हम लोगों में से सभी में कम्पिटीशन शुरू हो गया कि किसका एलबम पहले भर जाये। मुश्किल यह है कि हरे पैकेट में नयी तस्वीर मिलेगी, इस तरह की कोई बात नहीं है। अनिल के पास पैसा है, उसने एक साथ सौ पैकेट चाकलेट खरीदकर लगभग एक ही दिन में एलबम भर लिया। उसके साथ मुकाबला कौन करेगा? हालाँकि जो तस्वीरें एक से अधिक हुई जा रही थीं, उन्हें उसने खुले दिल से बाँट दिया, लेकिन खुद खरीदकर तस्वीर पाने का मजा उसमें है भला? हम लोग डेस्क के बीच में जुड़ी नीली स्याही की दवात में रेड इंक और रिलीफ निब डुबोकर लिखते थे, और अनिल लिखता था पार्कर फाउण्टेनपेन से। हम पाँच रुपये के बाक्स कैमरे से तस्वीर खींचते थे, पर अनिल अचानक पाँच सौ रुपये का एक जर्मन लाइका कैमरा ले आया, साथ

ही साउथ क्लब के टेनिस टूर्नामेण्ट की एनलार्ज की हुई तस्वीर। कलकत्ते में जब पहला यो यो निकला, तो अनिल एक साथ आठेक खरीदकर स्कूल में ले आया। हालाँकि उसके बाद इस मजेदार चीज को और बहुतों ने खरीदा। एक दिन देखा कि अनिल एक जोड़ी रोलर स्केट्स खरीदकर ले आया है। टिफिन की घण्टी बजते ही वह क्लास से निकला और चक्के लगे हुए जूते पहनकर बरामदे के इस कोने से उस कोने तक लुढ़कने लगा।

एक घण्टे के टिफिन में खाना और खेलना दोनों ही चलता था। बहुत सारे लड़के घर से टिफिन-बॉक्स में खाना ले आते थे। हम लोग एक पैसे में आलूदम का एक आलू खाते थे। यह आलू शाल के पत्ते के दोनों में बिकता था। साथ में एक तीली, जिससे आलू चुभाकर मुँह में डाल लेना पड़ता था। एक दिन देखा, उसके टिफिन में एक नये विचित्र और खाने का प्रवेश हुआ है। कागज से मढ़े हुए मक्खन के पैकेट की तरह आइसक्रीम—नाम 'हैपी ब्वाय', बंगाली कम्पनी। रास्ते में फेरी लगाकर बेची जानेवाली आइसक्रीम में यही पहली थी। कुछ दिनों के अन्दर ही शहर-भर में 'हैपी ब्वाय' आइसक्रीम की ठेलागाड़ी दिखने लगी। 'हैपी ब्वाय' बन्द हो जाने के बाद आयी मैग्नोलिया, और उसके बहुत बाद में क्वालिटी-फैरिनी आयी।

टिफिन के वक्त होनेवाले खेलों में से डण्डागुल्ली के अलावा जो खास तौर पर चालू था, वह है लट्टू। जगु बाबू बाजार के पास मित्र मुखर्जी की दुकान की सीढ़ी पर शाम को कलकत्ते के सर्वश्रेष्ठ लट्टू बनानेवाले गुपी बाबू बैठते थे। लट्टू कितनी अच्छी तरह नाच सकता है, जिसने गुपी बाबू के लट्टू का नाच नहीं देखा, वह यह नहीं जानता। टिफिन में उस लट्टू को गच्चा मारकर दूसरे का लट्टू फोड़ देने का खेल भी चलता था। इसके अलावा हाथ लत्ती, उड़न लत्ती, घूमते हुए लट्टू को हाथ से लत्ती में ढालकर फिर हाथ से उठा लेना—यह तमाम तो है ही। एक बार गच्चा लट्टू पर न लगकर अमल के पाँव पर लगा, और उसके पाँव से तुरन्त खून की धार बह निकली।

खेलते समय इस तरह की विपत्तियाँ और भी आयी हैं—जैसे कि

वार्षिक स्पोर्ट्स में सुशान्त का मामला। हमारी ही क्लास का लड़का, खेलकूद और पढ़ाई-लिखाई दोनों में ही अच्छा। स्पोर्ट्स में एक आईटम था, ब्लाइण्डफोल्ड रेस। मैदान के एक कोने से दूसरे कोने तक—सौ गज, आँखों पर पट्टी बाँधे दौड़कर आना पड़ता था। रेस शुरू हुई। सुशान्त सीधी लाइन में नहीं है, बीच रास्ते से बायीं ओर सरक आया है, यह मैं देख ही रहा हूँ। तभी उसका नाम लेकर उसे सावधान करने के लिए कोई चिल्ला उठा। सुशान्त एक क्षण के लिए भड़ककर ठिठका, फिर दूसरे ही क्षण यह समझकर कि देर हो रही है, बहुत ही तेजी से दौड़ने लगा और फिनिशिंग पोस्ट से लगभग पचास हाथ बायीं ओर सीधे स्कूल कम्पाउण्ड की दीवार से जा टकराया। वह दृश्य, और टकराने की वह आवाज—सोचने पर आज भी बदन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, हालाँकि उसके बादवाले साल से ब्लाइण्डफोल्ड रेस खत्म हो गयी थी।

स्कूल के पहले चार साल मैं बकुलबागान रोड पर ही था। नौवीं क्लास में मेरे रहते ही सोना मामा मकान बदलकर बेलतला रोड पर चले गये। यह मकान पहले मकान से कुछ बड़ा था। बेलतला में हमारे बगलवाले मकान में चित्तरंजन दास के दामाद बैरिस्टर सुधीर राय रहते थे। हल्के रंग की उनकी गाड़ी ही मेरी देखी हुई पहली मशहूर जर्मन गाड़ी मर्सेडीज वेन्त्स थी। सुधीर बाबू के लड़के मानु और मण्टू मेरे दोस्त बन गये। मानु ने भी बाद में बैरिस्टरी की, और, और भी बाद में राजनीति करके वह बंगाल का कांग्रेसी मुख्यमन्त्री बना। उस समय लोगों ने उसे सिद्धार्थ शंकर राय नाम से जाना।

मुहल्ले में लड़कों का एक क्लब है। मेरे बेलतला जाने के दो-एक दिन बाद ही क्लब के लड़कों का एक दल आया और मुझे पकड़कर ले गया। मानु और मण्टू भी उस क्लब के सदस्य थे। हमारे मकान से दो मकान बाद ही एक और बैरिस्टर निशीथ सेन का मकान, उस मकान के बड़े लॉन में क्रिकेट, हॉकी का खेल होता था, और मानुओं के छोटे मैदान में बैडमिंटन होता था। निशीथ सेन के लड़के और भतीजे चुनी-फुनी-अनु सभी क्लब के मेम्बर थे। और भी मेम्बरों में से चार्टुज्ये

परिवार के नीलू, बलु, अनाथ और गोपाल थे। स्कूल में रहते हुए ही वे संगी-साथी बने। हमारे मकान के बाहर आकर वे सड़क से ही मुहल्ला कँपाते हुए पुकारते थे—'माणिक, घर में हो क्या? अब उनके साथ और भी नये साथी जुड़े।

एक और लड़का था। वह साउथ सबर्बन स्कूल में हमारे साथ एक ही कक्षा में पढ़ता था, हालाँकि मुझसे चार साल बड़ा था। कई सालों से लगातार फेल होते हुए शायद उसका यह हाल हुआ होगा। यह अरुण, जिसका पुकारनेवाला नाम पानु था, मैमनसिंह के अखिलबन्धु गुह लोगों के घर का लड़का था; वह निशीथ सेन के दूसरी ओर वाले मकान में रहता था। हमारे क्लब का सदस्य होते हुए भी उसकी बुद्धि कम थी, इसीलिए कोई उसे घास नहीं डालता था। उसी पानु ने अचानक एक दिन दमदम के फ्लाइंग क्लब में भर्ती होकर एरोप्लेन चलाना सीख डाला। इसके बाद उसने हमें फ्लाइंग क्लब के वार्षिक उत्सव में आमन्त्रित किया और टू-सीटर प्लेन में आसमान में उठकर लगातार कई बार भीषण आवाज करते हुए हमें ताज्जुब में डाल दिया। इसके बाद से हम पानु की काफी इज्जत करते थे।

हमारे जमाने में एक सरकारी कानून था कि पन्द्रह साल की उम्र से कम में मैट्रिक की परीक्षा नहीं दी जा सकेगी। मेरी मैट्रिक परीक्षा 1936 के मार्च महीने में होनी थी। उस समय मेरी उम्र चौदह साल दस महीना होगी। इसका मतलब साल-भर बैठा रहना पड़ेगा। बहुत मुश्किल थी। अदालत के करिश्मे की मदद से उम्र को बढ़ाया जा सकता है, मगर माँ इस मामले में कतई तैयार नहीं थी। ताज्जुब की बात है, इम्तहान से कई महीने पहले ही सरकार ने पन्द्रह सालवाला कानून उठा लिया, और मुझे भी एक साल बैठे नहीं रहना पड़ा।

स्कूल छोड़ने के दसेक साल बाद किसी एक अनुष्ठान में, शायद भूतपूर्व छात्रों के सम्मेलन में, मुझे बालीगंज गवर्नमेंट हाईस्कूल में जाना पड़ा। हॉल में घुसते ही लगा—यह कहाँ आ गया रे बाबा! यह कमरा भला वही कमरा है—जो इतना बड़ा लगता था? दरवाजे में तो सिर ही टकरा जाता है। पर सिर्फ दरवाजा क्यों, सभी चीजें छोटी-छोटी-

सी लग रही हैं—बरामदा, क्लासरूम, क्लास की बेंचें--सभी।

भला ऐसा होगा भी क्यों नहीं ! जब मैंने स्कूल छोड़ा था, उस वक्त मैं पाँच फुट तीन इंच का था, और अब जब वापस आया हूँ, तो लगभग साढ़े छह फुट का हूँ। स्कूल तो जैसा था, वैसा ही है, सिर्फ मैं ही बढ़ा हूँ।

इसके बाद और किसी स्कूल में कभी नहीं गया। जानता हूँ कि जिन तमाम जगहों में बचपन की यादें लिपटी रहती हैं, नये सिरे से वहाँ जाने पर पुराने मजे वापस नहीं मिलते। असली मजा तो स्मृतियों का भण्डार टटोलते हुए उन्हें वापस पाने में है।

परिचय लिपि

पिता	सुकुमार राय
माँ	सुप्रभा राय
चाची	पुष्पलता राय
बुलु बुआ	माधुरी महलानबीस
तुतु बुआ	इला चौधुरी
सोना दादी	मृणालिनी बसु
हितेन चाचा	हितेन्द्र मोहन बसु
बापी	शैलेन्द्र मोहन बसु
बाबू	सोमेन्द्र मोहन बसु
बुला चाचा	प्रफुल्लचन्द्र महलानबीस
सोना मामा	प्रशान्तकुमार दास
मौसा, इंश्योरेंस कम्पनी के मालिक	अविनाशचन्द्र दास
दादी	सरला दास
मँझले मामा	सुधीन्द्रचन्द्र दास
बड़े मामा	चारुचन्द्र दास
बड़ी मौसी	प्रतिभादत्त
मानु दा	दिलीपकुमार दत्त
कालू मामा	बंकिमचन्द्र पाल
लेबू मामा	हीरेन्द्रनाथ दत्त
मँझला पिसेमसाई	अरुणनाथ चक्रवर्ती
पानकु चाचा	करुणारंजन राय
नीनी दी	नलिनी दास

रूबी दी	कल्याणी कालैकार
छुटकी मौसी	प्रभा आयंगार
मण्टू	संजीवचन्द्र दास
पुपे	नन्दिनी देवी
नन्दलाल बाबू	नन्दलाल बसु
मामा मौसी	मामा दास
मनु मौसी	गिरिबाला सेन
मँझली बुआ	पुण्यलता चक्रवर्ती
कल्याण	कल्याणकुमार चक्रवर्ती
लतु	लतिका राय
डाली	अमिता राय
मौसा, एक्साइज कमिश्नर	सुधीन्द्र चक्र हालदार
रण दा	रणजित सेन

□□